ओ३म्

दयानन्दसन्देश

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मासिक पत्र

अप्रैल २०१४

वर्ष ४३ : अङ्क ६
दयानन्दाब्द : १९१
विक्रम-संवत् : चैत्र-बैसाख २०७१
सृष्टि-संवत् : १,९६,०८,५३,११५

संस्थापक : स्व० ला० दीपचन्द आर्य
सम्पादक (अवैतनिक) : राजवीर शास्त्री
प्रकाशक व प्रबन्ध सम्पादक: धर्मपाल आर्य
सम्पादक : डॉ. अशोक कुमार
व्यवस्थापक : विवेक गुप्ता

कार्यालय :
दयानन्दसन्देश (मासिक)
४२७, नया बांस, मन्दिर वाली गली,
खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष : २३९८५५४५, ४३७८११९१
चलभाष : ९६५०६२२७७८
E-mail : aspt.india@gmail.com
एक प्रति ५.०० रु० वार्षिक शुल्क ५०) रुपये
आजीवन सदस्यता ५००) रुपये
विदेश में २०००) रुपये

इस लेख में

- आर्यसमाज का अभ्युदय २
- वेदोपदेश ३
- ध्यान की 6
- ईश्वर का जीवात्मा.... 10
- खण्डन क्यों.... 14
- इतिहास को 18
- लाहौर के 21
- पुनर्जन्म : सिद्धि व लाभ 23

सत्यार्थप्रकाश
प्रचार संस्करण ३००० रुपये सैकड़ा
स्पेशल (सजिल्द) ५००० रुपये सैकड़ा में प्राप्त करें।

ओ३म्

वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। महर्षि दयानन्द

परमेष्ठी प्रजापतिः ऋषिः। **अग्निः = भौतिकोऽग्निः।।** निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः।।

अथ यज्ञस्य स्वरूपमंगानि चोपदिश्यन्ते।।

अब यज्ञ के स्वरूप और उसके अंगों का उपदेश किया जाता है।

ओ३म् शर्मास्यवधूतं रक्षोऽवधूता ऽ अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिवः स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रतिं त्वा पर्वती वेत्तु।।१९।।

पदार्थः (शर्म) सुखहेतुः **(असि)** भवति। **अत्र सर्वत्र व्यत्यय (अवधूतम्)** विनाशितम् **(रक्षः)** दुःखं निवारणीयम् **(अवधूताः)** निवारणीया = विचालिता हताः। **अवेति विनिग्रहार्थीयः।। निरु. 1।3।। (अरातयः)** अदानस्वभावाः=कृपणाः **(अदित्या)** अन्तरिक्षस्य **(स्वक्)** त्वग्वत् **(असि)** भवति **(प्रति)** क्रियार्थे **(त्वा)** तं यज्ञम् **(अदितिः)** यज्ञस्यानुष्ठाता यज्ञमानः। **अदितिरिति पदनामसु पठितम्।। निघं. 5/5।। इति यज्ञस्य ज्ञाता पालकार्थो गृह्यते (वेत्तु)** जानातु **(धिषणा)** वाक् वेदवाणी ग्राह्या। **धिषणोति वाङ्नामसु पठितम् ।। निघं. 1।11।।** धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा। **धृषेर्धिषु च संज्ञायाम्।।उ. 2/82।। अनेनायं शब्दः सिद्धः।** महीधरेण धिषणेदं पदं धियं बुद्धिं कर्म वा सनोति व्याप्नातीति भ्रान्त्या व्याख्यातम् **(असि)** भवति **(पर्वती)** पर्वणं=पर्बहुज्ञानं विद्यतेऽस्यां क्रियायां सा पर्वती। **अत्र संपदादित्वात् क्विप्।** भूम्नि **मतुप् (उगितश्चेति)** ङीप् **(प्रति)** वीप्सार्थे **(त्वा)** तां ताम् **(अदित्याः)** प्रकाशस्य **(त्वक्)** त्वचति=संवृणोत्यनया सा **(वेत्तु)** जानातु **(दिवः)** प्रकाशवतः सूर्य्यादिलोकस्य **(स्कम्भनीः)** स्कम्भं=प्रतिबद्धं नयतीति सा **(असि)** भवति **(धिषणा)** धारणवती द्यौः। **धिषणेति द्यावापृथिव्योनामिसु पठितम्।। निघं. 3/30।। (असि)** अस्ति **(पार्वतेयी)** पर्वतस्य मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी। **पर्वत इति मेघनामसु पठितम्।। निघं. 1।10।। पर्वतस्येयं घनपंक्तिः=पार्वती तस्यापत्यं दुहितेव पार्वतेयी वृष्टिः।। स्त्रीभ्यो ढक्।। अ. 4।1।120।। अनेन ढक् (प्रति)** इत्थं भूताख्याने **(त्वा)** तामीदृशीम् **(पर्वती)** पः=प्रशस्तं प्रापणं यस्यां सा। **अत्र प्रशंसार्थे मतुप् (वेत्तु)** जानातु।। **अयं मंत्रः श. 1/2/1/14-17 व्याख्यातः।। 19।।**

प्रमाणार्थ (असि) भवति। यहां सर्वत्र व्यत्यय है। **(अवधूताः)** इस शब्द में 'अव' उपसर्ग है जिसका अर्थ निरु. (1/3) में नियन्त्रण **(दबाना)** है। **(अदितिः)** अदिति शब्द निघं. (5/5) में पद-नामों में पढ़ा है। अतः यहां 'अदिति' शब्द का अर्थ यज्ञ का ज्ञाता और पालक ग्रहण किया है। **(धिषणा)** 'धिषणा' शब्द निघं. (1/11)

में वाणी नामों से पढ़ा गया है। 'धृषेर्धिष् च संज्ञायाम् उणादि (2/82) से 'धिषणा' शब्द सिद्ध होता है। **(पर्वती)** यहां संपदादि से क्विप् प्रत्यय है। आधिक्य अर्थ में मतुप् और 'उगितश्च' इस सूत्र से ङीप् है। **(धिषण)** यह शब्द निघं. (3/30) में द्यावा पृथिवी के नामों में पढ़ा है। **(पार्वतेयी)** पर्वत शब्द निघं. (1/10) में मेघ-नामों में पढ़ा है। पर्वत की सघन श्रेणी पार्वती और दुहिता के समान उसका अपत्य पार्वतेयी = वृष्टि है। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (अ. 4/1/120) से ढक् प्रत्यय है। **(पर्वती)** यहां प्रशंसा अर्थ में मतुप् प्रत्यय है। इस मन्त्र की व्याख्या शत. (1/2/1/14-17) में की गई है। 1/19।।

सपदार्थान्वयः **हे मनुष्याः। भवन्तो योऽयं शर्म**=सुखदः सुखहेतुः **असि** भवति, **अदितिः=नाशरहितो** यज्ञस्याऽनुष्ठाता यजमानो **(असि)=अस्ति, येन रक्षः**=दुःखं (दुःखं) निवारणीयम् **अवधूतम्** विनाशितम्, **अरातयः** अदानस्वभावाः कृपणा **अवधूताः**=विनष्टा निवारणीया विचालिता हताः **च भवन्ति। यो अदित्याः=अन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च (त्वक्)**=त्वग्वद् असि=अस्ति भवति **त्वा**=तं (तं) यज्ञं **वेत्तु=विदन्तु।**

येन विद्याऽऽख्येन यज्ञेन पर्वती पर्वणं पर=बहुज्ञानं विद्यतेऽस्यां क्रियायां सा पर्वती **दिवः** प्रकाशवतः सूर्यादिलोकस्य स्कम्भनीः स्कम्भं प्रतिबद्धं नयतीति सा **पार्वतेयी** पर्वतस्य=मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी, पर्वतस्येयं घनपङ्क्तिः पार्वती, तस्याऽपत्यं दुहितेव पार्वतेयी वृष्टिः **धिषणा** धारणा वेती द्यौः **अदित्याः** प्रकाशकस्य (त्वक्)=**त्वग्वत्** त्वचति=संवृणोत्यनया सा **विस्तार्य्यते, त्वा**=तं तामीदृशीं **प्रतिवेत्तु=यथावज्जानन्तु।**

येन सत्सङ्गत्याऽऽख्येन पर्वती=ब्रह्मज्ञानवती पः= प्रशस्तं प्रापणं यस्यां सा **धिषणा** वाक् वेद-वाणी धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा **प्राप्यते, तमपि प्रतिवेत्तु=जानन्तु।।** 1/19।।

भाषार्थ : हे मनुष्यो! आप लोग जो यह यज्ञ **(शर्म)** सुखदायक एवं सुख का हेतु **(असि)** है, **(अदितिः)** नाश रहित तथा शुभ कर्मो का पालक **(असि)** है, जिससे **(रक्षः)** सब दुख **(अवधूतम्)** विनष्ट होते हैं तथा **(अरातयः)** दान न देने वाले कंजूस लोग **(अवधूताः)** नष्ट होते हैं। और जो **(अदित्याः)** आकाश और पृथिवी की **(त्वक्)** त्वचा के समान **(असि)** है **(त्वा)** उस यज्ञ को **(वेत्तु)** जानो।

जिस विद्या नामक यज्ञ से **(पर्वती)** बहुत ज्ञान वाली **(दिवः)** प्रकाशमान सूर्यादि लोकों को **(स्कम्भनीः)** नियम में चलाने वाली **(पार्वतेयी)** पर्वत अर्थात् मेघ की पुत्री के तुल्य जो वर्षा है वह तथा **(धिषणा)** सबको धारण करने वाली द्यौ **(अदित्याः)** प्रकाशक सूर्य के **(त्वक्)** शरीर को आच्छादित करने वाली त्वचा के समान विस्तृत की जाती है **(त्वा)** उस यज्ञ को तथा उस द्यौ को **(प्रतिवेत्तु)** यथावत् जानो।

और जिस सत्संगति नामक यज्ञ से **(पर्वती)** ब्रह्म ज्ञान एवं प्रशंसनीय प्राप्ति वाली **(धिषणा)** वेदवाणी प्राप्त की जाती है उसे भी **(प्रतिवेत्तु)** यथावत् जानो।।1/19।।

भावार्थः मनुष्यैर्यो विज्ञानेन सम्यक् सामग्री संपाद्य यज्ञोऽनुष्ठीयते, यश्च वृष्टि बुद्धिवर्धकोऽस्ति, सोऽग्निना मनसा च संसाधितः सूर्य प्रकाशं त्वग्वत् सेवते।। 1/19।।

भावार्थः मनुष्यों के द्वारा विज्ञान से भलीभांति सामग्री को सिद्ध करके जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है वह वर्षा और बुद्धि को बढ़ाने वाला है, सो अग्नि और विज्ञान से उत्तम रीति से सिद्ध किया हुआ सूर्य के प्रकाश की, त्वचा के समान सेवा करता है।। 1/19।।

आर्यसमाज का अभ्युदय

(धर्मपाल आर्य, २ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७)

लगभग 139 वर्ष पूर्व आर्यसमाज का उदय हुआ था। उससे पूर्व इस देश की आध्यात्मिक विरासत पर तथाकथित सन्तों, पाखण्डों और अन्धविश्वासों का तथा देश की राजनीतिक स्वतंत्रता पर मुसलमानों के बाद अंग्रेजों का एकछत्र साम्राज्य था। तत्कालीन हिन्दू समाज अपनी आस्था पर और अपने महापुरुषों पर ईसाई और मुसलमानों के आक्षेपों व अपमानजनक टिप्पणियों के कारण हीन भावना से बुरी तरह आहत था। उस समय के हिन्दू धर्म के सन्त, महन्त और आध्यात्मिक आचार्य अपनी टिप्पणियों का मुंहतोड़ जवाब नहीं दे पा रहे थे। यह समाज मुख्य दो प्रकार के शोषणों का शिकार बन रहा था। पहला विदेशी शासकों द्वारा इस देश की भोली-भाली प्रजा का शोषण किया जा रहा था, दूसरे धर्म के नाम पर विभिन्न मत मतान्तरों के ठेकेदार इस देश के लोगों को लूट रहे थे। धर्म के नाम पर पण्डे पुजारी और शासन के नाम पर विदेशी आक्रान्ता इस देश में जमकर भोली भाली जनता पर अत्याचार कर रहे थे। राष्ट्र विरोधी ताकतें इस देश को हर तरफ से हर प्रकार से खोखला करने में लगी हुई थी। आर्यावर्त की सांस्कृतिक विरासत को और आध्यात्मिक परम्पराओं को चौपट किया जा रहा था। भक्ति केवल मन्दिर की मूर्तियों को पूजने व अवतारवाद तक सीमित थी जिसका विदेशी आक्रान्ता जमकर उपहास उड़ाते थे। आर्यावर्त की धरती जिस पर ऋषियों द्वारा ऋचाओं का गायन तथा पावन उपदेश होता था। आर्यावर्त की भूमि जो यज्ञ की पावन सुगन्धि से सुवासित होती थी। आर्यावर्त की धरती जिस पर ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक, राजा से लेकर रंक तक, अमीर से लेकर गरीब तक, युवा से लेकर वृद्ध तक स्त्री से लेकर पुरुष तक, सभी जीओ और जीने दो की जीवन शैली को साकार करते थे ऐसी आर्यावर्त की पवित्र धरा विदेशी शासकों के अत्याचारों से बोझिल होती जा रही थी। निराशा का गहन अन्धकार और आपत्तियों के घन और गहराते जा रहे थे। इतनी विकट और विषम परिस्थितियों का डटकर मुकाबला करते हुए, अन्दर और बाहर के विरोधियों से जूझते हुए, पौराणिक सहित सभी मतों के धुरन्धरों को शास्त्रार्थ समर में धूल चटाते हुए, वेदों का नाद बजाते हुए, आशा का दीप बनकर निराशा के गहन तिमिर को मिटाते हुए, पाखण्ड को भगाते हुए, सोते देशवासियों को जगाते हुए, बिछुड़ों और पिछड़ों को गले लगाते हुए, जातिवाद समेत सभी वादों के विरुद्ध अपना अभियान चलाते हुए भी युग प्रवर्तक, सर्वहितैषी अखण्ड ब्रह्मचारी, महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पाखण्ड के समूल नाश के लिए, राष्ट्र के नवनिर्माण के लिए, विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनाने के लिए, वेदों के प्रचार-प्रसार के लिए तथा वैदिक-संस्कृति की रक्षा के लिए आर्यसमाज की स्थापना की थी। उसके नियम आज पूरे विश्व के लिए मील का पत्थर साबित हो सकते हैं। आर्यसमाज के संगठन में उसके संस्थापक महर्षि दयानन्द ने अपने लिए कोई विशेष स्थान वा पद नहीं रखा था। वे अपने आपको भी आर्यसमाज का एक ''साधारण सदस्य'' समझते थे। एक बार लाहौर आर्यसमाज ने जब उनसे एक अधिवेशन का प्रधान पद स्वीकार करने की प्रार्थना की तो उन्होंने यही उत्तर दिया था कि आपकी समाज के प्रधान विद्यमान ही हैं वही अपना कर्तव्य पालन करें, एक साधारण सदस्य के रूप में मैं भी आपके कार्य में योग दे सकता हूँ। महर्षि जी का उपरोक्त कथन लोकैषणा पर नियन्त्रण की उच्च भावना को व्यक्त करता है। आर्यसमाज की स्थापना को 139 वर्ष हो गए हैं।

लगभग डेढ़ शताब्दी की अवधि में आर्यसमाज ने बहुत से उतार चढ़ावों का, अनुकूलता-प्रतिकूलताओं का डटकर सामना किया है। यह निर्विवाद सत्य है कि राष्ट्र निर्माण के इतिहास में आर्यसमाज के योगदान का एक स्वर्णिम अध्याय है। स्वामी जी ने आर्यसमाज का लक्ष्य भी राष्ट्र निर्माण पर और वेद का प्रचार-प्रसार मुख्य रूप से निर्धारित किया था तभी उन्होंने आर्यसमाज के नियमों में यह स्पष्ट कर दिया था कि ''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। वेद का पढ़ना, पढाना, सुनना सुनाना परम धर्म माना जबकि आर्यसमाज के लक्ष्य का निर्धारण करते हुए ऋषि जी लिखते हैं ''संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के व्यापक और विस्तृत धर्म का व लक्ष्य का संक्षेप में जिस कौशल के साथ उल्लेख किया है, उसकी उपमा इस युग में तो मिलना असम्भव ही है। वेद पढ़कर, पढ़ाकर सुनकर और सुनाकर परम धर्म का पालन करते हुए यह आर्यसमाज संसार की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करते हुए सांसारिक उपकार के अपने उद्देश्य को प्राप्त करे। उपरोक्त परम धर्म और उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रति जब आर्यसमाज गम्भीर था, महर्षि द्वारा निर्धारित परम धर्म और उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जब यह आर्यसमाज अहर्निश मनसा वाचा कर्मणा प्रयासरत था, तब आर्यसमाज का पूरा अभियान पूरी दुनिया को एक विराडग्नि के समान दिखायी देता था जो एक दिन पूरी दुनियां में फैलकर पूरी अविद्या और पाखण्ड की जड़ को हमेशा-2 के लिए खत्म कर देगा। तभी तो अमरीका के एक दर्शनिक विद्वान डाक्टर ऐंड्रयू जैक्सन डेविस ने अपने कवितामय लेख में मनोहर भावों को व्यक्त करते हुए लिखा था, ''मैं एक ऐसी अग्नि देखता हूं, जो सर्वव्यापक है, जो सर्व विद्वेष को भस्मसात करने के लिए प्रज्जवलित हो रही है। अमरीका के प्रशस्त क्षेत्रों, अफ्रीका, के बड़े स्थलों, एशिया के शाश्वतिक पर्वतों, योरुप के विशाल राज्यों और राष्ट्रों में सर्वनाशन, सर्वपावन इस पावक की प्रज्जवलित ज्वलाएँ मुझे दिखाई दे रही हैं। डेविस जैक्सन महोदय का उपरोक्त कथन काफी विस्तृत है। मैंने विस्तार भय से ज्यों का त्यों नहीं रखा है लेकिन इसमें भी उन्होंने बहुत कुछ कह दिया है। महर्षि जी द्वारा निर्धारित परम धर्म और उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आज आर्य कितना गम्भीर है। 139 वर्षों में आर्यसमाज ''कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के उद्देश्य को कितना साकार कर पाया है। आर्यसमाज जिन परिस्थितियों से आज जूझ रहा है क्या उनके रहते हम ऋषि के सपने को साकार कर पायेंगे? संसार ने आर्यसमाज को कितना पढ़ा? कितना अपनाया? आर्यसमाज ने संसार को कितना पढ़ा? कितना अपने सांचे में ढाला, आर्यसमाज ने स्वयं आर्यसमाज को कितना पढ़ा है। आर्यसमाज ने आर्यसमाज कितना अपनाया? ऐसे अनेक यक्ष प्रश्न हैं जिन पर आज गम्भीरता से विचार कर ईमानदारी से उनका उत्तर तलाशने की नितान्त आवश्यकता है। आपसी विवाद हमेशा राज्यों, जातियों, समाजों व संगठनों के लिए विनाशक सिद्ध हुए हैं। आर्यसमाज राजनीति का नेतृत्व करे, यह बात तो समझ में आती है लेकिन आर्यसमाज में गन्दी राजनीति का दखल होना निश्चित ही दुर्भाग्यपूर्ण है। हम सब आर्यसमाज स्थापना दिवस पर गहन आत्मचिन्तन करें और आर्यसमाज को उसके गौरवमय स्थान पर स्थापित करने का संकल्प लें ताकि ऋषि जी का स्वप्न साकार हो सके। आचार्य मेघाव्रत जी के शब्दों में

'संसारेऽस्मिन् विलसतु पुनर्भव्यवेदांशु माली।
संस्काराणां भवतु महतां पावनानां प्रचारः।।
वेदोपदेशामृतजलधरां भक्तिधा रांप्रवर्धन।
लोक स्वान्ते सकल सुखदा स्यन्दतां स्नेहधारा।।

ध्यान की प्रारम्भिक प्रक्रिया

(उत्तरा नेरूरकर)

महर्षि दयानन्द ने पञ्च महायज्ञ विधि में सन्ध्योपासना की विधि विस्तार से बताई है परन्तु यहां ध्यान में डूबने के प्रकार पूर्ण रूप से नहीं दिये हैं। महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन की तो यह विषयवस्तु ही है वेदों में इसका संक्षिप्त वर्णन है। उपनिषदों में इसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। कुछ मूलों के आधार पर, और कुछ अपने अनुभव के आधार पर, मैं इस लेख में ध्यान करने का प्रारम्भिक प्रकार दे रही हूँ।

पहले तो यह जानना आवश्यक है कि ध्यान क्या नहीं है। अनेक जन आसन लगाकर कुछ कल्पना करके मन को उसमें लगाने को ध्यान बताते हैं जैसे पहाड़ों, झरनों का दृश्य या हम बहुत छोटे हो गए हैं या आकाश में उड़ रहे हैं, आदि, आदि। सम्भव है कि इसके कुछ अच्छे परिणाम हों, मन प्रसन्न होता हो, एकाग्र होता हो। तथापि यह ध्यान नहीं होता।

पतञ्जलि ने बताया है कि योग, अर्थात् परमात्मा या अपनी आत्मा से जुड़ने, के लिए चित्त की वृत्तियों का निरोध (रोकना) करना पड़ता है ये चित्त की वृत्तियां पाँच प्रकार की हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। एक अन्य लेख- 'योगदर्शन में वर्णित चित्त-वृत्तियों का विश्लेषण'- में मैंने इस विषय पर चर्चा करी थी कि ये वृत्तियां क्या हैं। संक्षेप में इन्हें ऐसे समझा जा सकता है-

प्रमाणों में- **प्रत्यक्ष** वह है जब हम अपनी इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण कर रहे होते हैं, जैसे चलचित्र देख रहे हाते हैं; अनुमान वह है जब हम बुद्धि से निश्चय कर रहे होते हैं, जैसे जब हम गणित समझने का प्रयास कर रहे होते हैं; आगम वह है जब हम शब्द सुन कर उसका अर्थ मन में कर रहे होते हैं।

विपर्यय मुख्य रूप से सुख-दुख रूपी हमारे भाव हैं। ये हो तो शरीर को रहे होते हैं, परन्तु हमारे मिथ्याज्ञान से ये हमें अपने में प्रतीत होते लगते हैं।

विकल्प कल्पना वृत्ति, जब हम शब्दों के आधार पर, या अन्यथा, वास्तविकता से परे किसी कहानी, चित्र, यहां तक संगीत भी, को रचते हैं। सभी रचनात्मक कृत्य कल्पना में ही जन्म लेते हैं।

निद्रा-वृत्ति तो स्पष्ट ही है- वह वृत्ति जब हमारे चित्त के अनेक कार्य बन्द हो जाते हैं, कुछ अत्यावश्यक ही बने रहते हैं।

स्मृति वह है जो पूर्व अनुभूत विषयों को हम अपने चित्त में बन्द कर लेते हैं, और बाद में उनका स्मरण करते हैं।

इस सबसे स्पष्ट होता है कि पतञ्जलि ने चित्त के विभिन्न प्रकार से क्रिया करने को ही वृत्ति कहा है, और इन सभी क्रियाओं को जब हम रोक देते हैं, समाधिस्थ हो जाते हैं। इसीलिए ध्यान में किसी वस्तु, प्राणी या दृश्य-विशेष की कल्पना करना उपयुक्त नहीं है।

वास्तव में, पतञ्जलि ने ध्यान को तीन अवस्थाओं में बांटा है- धारणा, ध्यान व समाधि। और उससे भी पूर्व की दशा है 'प्रत्याहार'। इनके अर्थ इस प्रकार हैं-

1) **प्रत्याहार-** इन्द्रियों को अपने विषयों से अलग

करने पर उनका चित्त के आकार का हो जाना। इसको हम प्रारम्भिक ध्यान कह सकते हैं। ध्यान का अभ्यास साधक को यहीं से करना चाहिए।

2) **धारणा-** चित्त को शरीर के देश-विशेष में केन्द्रित करने को- किसी एक point पर focus करने को धारणा कहते हैं यहां इन्द्रिय तो बन्द ही रहती है, चित्त को ही एक स्थान पर लगाया जता है।

3) **ध्यान-** जब केन्द्रित विषय में ध्यान इतना लग जाए कि कुछ और अनुभव ही न हो, तब वह 'ध्यान' कहाता है। धारणा में ध्यान थोड़ा इधर-उधर जा सकता है। अभ्यास के साथ वह लम्बे समय के लिए केन्द्रित होने लगता है।

4) **समाधि-** जब ध्यान इतना प्रगाढ़ हो जाए कि केवल ध्यान का विषय ही अनुभव हो, अपनी भी सुध-बुध न रहे, तब वह समाधि कहाती है। पतञ्जलि ने समाधि के भी कई प्रकार बताए हैं, परन्तु यह लेख उससे निचले स्तरों के बारे में है।

वेद और उपनिषद् में इसे सरल तरीके से कहा गया है कि इन्द्रियों का मन में निवेष करो, और मन का बुद्धि में; फिर उस बुद्धि की सहायता से, परमात्मा की स्तुति में डुबाकर, अपने आप को और ब्रह्म को देखो-

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्।।

यजु. 11/1।।

अर्थात् तत्त्व-दर्शन की इच्छा करने वाला जीवात्मा पहले मन को बुद्धि से जोड़े, फिर (बुद्धि से) परमात्मा की ज्योति-ज्ञान को पाए।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्महो देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।।

यजु. 11/4, ऋक्. 5/81/1।।

अर्थात् प्रज्ञावान् मनुष्य, पूर्व ज्ञानियों के समान, पहले अपने मन को बुद्धि से जोड़े, फिर बुद्धि को परमात्मा की महान स्तुति में लगा दें।

कठोपनिषद् में जैसे इन दो मन्त्रों का सार इस प्रकार दिया है-

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तत्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।

कठ. 1/3/13।।

अर्थात् प्रज्ञावान् साधक पहले वाणी, अर्थात् सभी दश इन्द्रियां मन में निविष्ट करे। फिर उस युक्त मन को अपने ज्ञान, अर्थात् बुद्धि में डाल दे। उस युक्त बुद्धि को वह अपनी महान आत्मा में प्रवेश कराए। फिर उस आत्मा को ब्रह्म-रूपी शान्त आत्मा में डाले। वस्तुतः ध्यान-पद्धति का यह अत्यन्त संक्षिप्त और स्पष्ट निरूपण है।

पुनः कठ विस्पष्ट करता है-

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।

कठ. 1/3/12।।

अर्थात् वह ब्रह्म सारी वस्तुओं और प्राणियों में छिपा बैठा है। उसे केवल सूक्ष्म-द्रष्टा अपनी अति तीक्ष्ण बुद्धि से देख सकता है।

यदा पञ्चावतिष्ठयन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।

कठ. 2/10।।

अर्थात् जब पांचों इन्द्रियों के ज्ञान मन के साथ ठहर जाते हैं, और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है, तब परम गति- ईवर का साक्षात्कार- प्राप्त होता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् भी कहता है-

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।।

श्वेताश्वतर. 2/8।।

अर्थात् शिर, गले और छाती को ऊपर उठा कर, पीठ सीधी करके (ध्यान के लिए बैठे), और इन्द्रियों को मन के द्वारा बुद्धि में निविष्ट करे। फिर ब्रह्म रूपी नौका पर चढ़ जाए, अर्थात् उसकी स्तुति में बुद्धि को लगा दे। इस नौका से वह सब भयावह संसार के प्रवाहों को तर जायेगा। इन उपायों से अपने स्वरूप को देख लेने के बाद, श्वेताश्वतर कहते हैं-

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तं प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।

श्वेताश्वतर. 2/15।।

अर्थात् जैसे दीपक से हम अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करते हें, वेसे जब जीवात्मा अपने को देख ले, तो उस आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व को विशेष रूप से देखे। उस अजन्मे, निश्चल, अन्य सभी तत्त्वों से रहित देव को जानकर, वह सब पाशों से छूट जाता है।

इन सब में जो इन्द्रियों को मन में निविष्ट करने की बात कही गई है, वही प्रत्याहार है। फिर मन को जो बुद्धि में समाविष्ट करना है, वह धारणा और ध्यान है। फिर बुद्धि से जो आत्मतत्त्व देखना है, वह समाधि है, और आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व देखना समाधि की पराकाष्ठा (योग में बताई निर्जीव समाधि) है।

अब थोड़ा प्रथम स्तर-प्रत्याहार- पहुंचने के उपाय देखते हैं।

महर्षि दयानन्द ने ईश्वरोपासना में प्राणायाम का भी महत्त्व बताया है। ध्यान से पूर्व प्राणायाम करने से मन शान्त हो जाता है- ऐसा उन्होंने कहा है। यहां भी उपनिषद् और योगदर्शन एकमत हैं-

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छवसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहनमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः।।

श्वेताश्वतर. 2/9।।

अर्थात् साधक सारी शारीरिक चेष्टाओं को रोककर, प्राणों को प्राणायाम द्वारा हल्का कर दे। ऐसा करने से यह दुष्ट अश्वों से युक्त रथ के समान मन वश में आ सकेगा।

इस विषय में एक और महत्वपूर्ण अंश है- शरीर के पंच कोष। ये हैं- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। इससे अधिक इनका वर्णन उपलब्ध नहीं हुआ। साधारण बुद्धि से हम समझ सकते हैं कि ये शरीर की स्थूल से सूक्ष्मतर परते हैं। सो, अन्नमय परत स्थूल शरीर की है। प्राणमय कोष प्राण-वायु से सम्बद्ध है। मनोमय कोष में मन स्थित है। विज्ञानमय कोष बुद्धि वाला है। आनन्दमय कोष जीवात्मा के निकटतम सूक्ष्म शरीर की परत होनी चाहिए।

यहां पर हम केवल प्रत्याहार पर चिन्तन करें तो, मैंने पाया है कि प्रत्याहार-पद्धति में इन सभी बातों का समावेश कर लेना चाहिए। प्रथम, प्राणायाम अवश्य करें- पाँच बार ही नहीं, परन्तु सांस को हल्का करने के लिए और मन को स्थिर करने के लिए जितना आवश्यक हो, उतना करें। हम स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि जब हमारी श्वास तीव्र गति से चल रही होती है, तब हम ध्यान नहीं लगा सकते। पहले हमें

सांस को सम करना पड़ता है। सो, इसी को उलटी दिशा में ले जाते जाएं, तो जितनी हमारी सांस हल्की चल रही होगी उतनी वह हमारे ध्यान में बाधा कम देगी।

प्राणायाम करते-करते ही, बिना हमारे जाने हुए हमारा मन अन्नमय कोष से प्राणमय कोष में पहुँच जाता है। अब हमें मन को प्राण से हटाकर और अन्दर ले जाना चाहिए। वहां हम स्वयं अनुभव करेंगे कि यहां से हम शरीर का संचालन कर सकते हैं, शरीर को आदेश दे सकते हैं। साथ ही शरीर के अवयवों की यहां अनुभूति रहती है। यह मनोमय कोष है। ध्यान को और अन्दर ले जाने पर हम विचार के क्षेत्र में पहुंचेगे, अर्थात् हमारी बुद्धि। यह वही स्थान है जहां हम विचार-मग्न होने पर जाते हैं, जब हमें अपने शरीर की सुध-बुध नहीं रहती, आंखों के खुले होने पर भी वे नहीं देखतीं, और जब कोई हमें पुकारता है, तो हम झटके से वापस इस संसार में आते हैं। भेद इतना ही है इस दूसरी स्थिति में हम अनायास पहुंच जाते हैं, जबकि ध्यान में हम इन्द्रिय, मन, आदि को वश में करते हुए पहुंचते हैं, और बुद्धि को देख रहे होते हैं। इसके भी भीतर जाने पर, हम अपने को छू लेते हैं, और वास्तव में यहां आनन्द प्राप्त होता है। इस स्थिति को बनाये रखना बहुत कठिन होता है। सम्भवतः, इसी को लम्बा करते जाने पर, एकरस करते जाने पर समाधि की उपलब्धि होती है।

यहां पुनः यह कहना आवश्यक है कि किसी भी स्थिति में कल्पना न करें। कल्पना वस्तु स्थिति तक नहीं पहुंचने देगी। आप विकल्प वृत्ति में फंसे रहेंगे। जिस प्रकार इन्द्रियों के मन में निवेश से प्रत्यक्ष-ग्रहण बन्द हो जाता है, वैसे ही हमें हर प्रकार के विचार से अपने को शून्य करना है। तभी सत्य हमारे सामने उपस्थित हो सकता है।

प्रातः काल में प्राणायाम के तुरन्त बाद ध्यान लगाना सबसे लाभकारी होता है। शाम को दिन-भर के विचार हमें उद्विग्न कर सकते हैं, परन्तु सुबह हमारा दिन अभी आरम्भ नहीं हुआ होता है। इसलिए हमारा मन किसी चिन्ता में फंसा नहीं होता है। शान्त मन ध्यान की पहली आवश्यकता है। इसलिए शाम को, सबसे पहले, हमें अपने सभी कार्य परमात्मा को, प्रार्थना के साथ-साथ, अर्पित करने चाहिए। अपनी सारी कठिनाइयों को उसके हाथों में दे देना चाहिए, जिससे दिन के कार्यों की चिन्ताएं न्यून हो जायें।

मनु ने कहा है कि ब्रह्मचारी और गृहस्थ को सदा दिन और रात्रि के सन्धिकालों में ध्यान लगाना चाहिए-

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम्।।

मनुस्मृतिः 4/13।।

लम्बे समय तक ध्यान लगाने का फल उन्होंने इस प्रकार कहा है-

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च।।

मनुस्मृतिः 4/94।।

अर्थात् ऋषियों ने दीर्घ सन्ध्या करके दीर्घ आयु प्राप्त की, और उसके साथ-साथ प्रज्ञा, यश, कीर्ति और ब्रह्मवर्चस भी। इससे प्रेरणा लेते हुए, हमें अधिकाधि ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। आरम्भ में जब हमारा मन स्थिर नहीं होता, तब भी अभ्यास चालू रखना चाहिए। कालान्तर में, परमात्मा, हमारे सच्चे प्रयत्न को देखकर, अपनी कृपा से और हमारे गुरु के रूप में, हमारा मार्ग-दर्शन करेंगे।

❑❑

ईश्वर का जीवात्मा को सर्वोत्तम उपहार- मानव जीवन, वेद और सृष्टि

- मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून

ईश्वर ने मनुष्य को संसार में जन्म देने से पूर्व इस महान सृष्टि को बनाया। यह सृष्टि इतनी विशाल है कि वैज्ञानिक आज तक भी इसे पूरी तरह से जान नहीं सके हैं। अविदित परिमाण वाला सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा व अन्य ग्रह-उपग्रहों तथा इस सारे ब्रह्माण्ड में अनन्त सौर-मण्डल व सृष्टि का रचयिता व प्रकाशक हमारा प्यारा उपासनीय ईश्वर है। सबसे पहले तो प्रश्न यह है कि हम कौन हैं, क्या हैं, किसने व क्यों हमें यह जन्म दिया है व हमारे जीवन का लक्ष्य व उद्देश्य क्या है? फिर प्रश्न आता है कि किसने यह संसार बनाया, किसने हमें बनाया, क्यों बनाया, उसका क्या प्रयोजन है हमें बनाने में, हममें परस्पर कुछ-कुछ भिन्नता का क्या कारण है? एक शिशु निर्धन माता-पिता के यहां जन्म लेता है तो कोई धनी के यहां। ऐसे नाना प्रकार के प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इन्हें जानना हमारे लिए आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य है। इनको जान लेने के बाद जीवन जीने की सही विधि ज्ञात हो सकती है, अन्यथा यह जीवन खाने-पीने-मौज करने में ही लगा रहा तो परिणाम भयंकर हो सकते हैं।

इन प्रश्नों पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि बड़ी सत्ता, छोटी सत्ता को सदैव कुछ न कुछ दिया करती है। हमारे माता-पिता, आचार्य, राजा, ऋषि-मुनि आदि हमसे बड़े थे उन्होंने हमें दिया ही दिया है और छोटे थे इसलिए हमने बिना किसी संकोच के उनसे लिया ही लिया है। दूसरी बात यह भी है कि देने वाला पात्रता अवश्य देखता है। दान में प्राप्त वस्तु का दुरूपयोग करने वाले कुपात्र को कुछ देना नहीं चाहता। ईश्वर से हमें वह वस्तुयें मिली हैं जो हमारे माता-पिता, आचार्य, राजा, न्यायाधीश व ऋषि मुनि भी हमें नहीं दे सकते। वह वस्तु हमारा मानव शरीर है। यह मानव शरीर ईश्वर के अतिरिक्त कोई किसी को नहीं दे सकता। हमने कई लोग ऐसे देखे हैं जो कहते हैं कि ईश्वर ने हमें कुछ नहीं दिया। हम उनसे पूछते हैं आपका शरीर किसने आप को दिया है, तो वह चौंकते हैं कुछ सही उत्तर देने के स्थान पर खींचातानी करते हैं और तरह-तरह की बातें बनाते हें यह सत्य है कि हमारा मानव शरीर हमें ईश्वर से मिला है। माता-पिता, चिकित्सक व धायी आदि ईश्वर द्वारा इस मानव शरीर को हमारे माता-पिता व हमें देने में उपकरण की भांति प्रयोग किये गये हैं। कोई माता-पिता व चिकित्सक इस शरीर का एक भी अंग या प्रत्यंग जैसे ईश्वर द्वारा निर्मित किए गए है, बना नही सकता। एक आंख करोड़ों का व्यय करके भी नहीं बनाई जा सकती और न खरीदी जा सकती है। जो लोग निर्धन हैं वह यदि यह सोचें कि हमारी एक आंख ही करोड़ों रूपयों से अधिक की है तो सारा शरीर तो अनमोल हो गया। यह ईश्वर की कृपा, दया व देन है। इतना ही नहीं, मानव शरीर के निर्वाह के लिए ईश्वर यह सारा ब्रह्माण्ड, सूर्य, चन्द्र पृथिवी, पर्वत, समुद्र, नदी-नाले, वायु, अग्नि, जल, वनस्पतियां, अन्न, फल, दुग्धधारी गाय आदि पशु आदि पदार्थ भी बना कर दिये हैं। इन सब का स्वामी केवल एक ईश्वर ही है। ऐसे ईश्वर को हमें भी कुछ कर या टैक्स के रूप में बिना मांगे व कहे देना होता है। वह ईश्वर बिल तो भेजता नहीं, हमें स्वयं ही अध्ययन कर विवेक से इसका निर्णय करना है। वेद एवं वैदिक साहित्य आदि हमारे शास्त्र इसमें हमारी सहायता कर सकते हैं। सबसे सरल तरीका तो इसके लिए महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश, पंच महायज्ञ विधि, संस्कार विधि आदि ग्रन्थ हैं जिनको पढ़कर इनकी सहायता से हम ईश्वर, माता-पिता, आचार्य, राजा, देश, समाज, मित्र, शत्रु आदि के प्रति अपना कर्तव्य जान सकते हैं इस प्रसंग के क्रम में अब हम ईश्वर व जीवात्मा से जुड़े प्रश्नों पर दृष्टि डालते हैं और

ईश्वर प्रदत्त ज्ञान वेद एवं वैदिक साहित्य से उनका उत्तर खोजते हैं।

हम कौन हैं का उत्तर है कि हम एकदेशी, अल्प शक्तिमान, चेतन तत्व हैं। हम अनादि, अनन्त, अजन्मा, अमर, कर्मों के कर्ता व उसके सुख-दुख रूपी फलों के भोक्ता हैं। कर्म का फल देना ईश्वर के अधीन व नियन्त्रण में है। ईश्वर की भूमिका एक न्यायाधीश की है जो निष्पक्ष रूप से हमें संचित कर्मों से बने हमारे प्रारब्ध के अनुसार सुख-दुःख रूपी फल देता है। इस मनुष्य जीवन में हम कर्मों के बन्धन में बंधे हुए हैं। बन्धन से दुःख होता है व बन्धनों से स्वतन्त्र अवस्था का नाम मोक्ष या मुक्ति है। कैवल्य, निर्माण आदि शब्द भी जीव की स्वतन्त्रता या मोक्ष व मुक्ति आदि के लिए मिलते जुलते शब्द हैं। जीवात्मा जो कर्म करता है वह कर्मों की प्रकृति के भेद से दो प्रकार के होते हें शुभ-कर्म यथा परोपकार, सेवा, यज्ञ-अग्निहोत्र, सन्ध्या, माता-पिता की सेवा आदि पुण्य कर्म हैं व इनका न करना व इनसे विपरीत करना अशुभ या पाप कर्म कहाते हैं। पाप कर्मों का फल दुःख होता है तथा शुभ कर्मों का फल सुख होता है जो ईश्वर की व्यवस्था से जीवों को मिलता है। गीता में सरल शब्दों में इस कर्म-फल सिद्धान्त को बताते हुए कहा गया है कि **'अवश्यमेव ही भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' अर्थात् जीवों को अपने किये हुए कर्मों के फल अवश्य ही भोगने होते हैं। इनसे बचा नहीं जा सकता।** पुरूषार्थ से मनुष्य अपना भाग्य बदल सकता है या यों कह सकते हैं कि पुरूषार्थ प्रारब्ध से बड़ा है।

प्रारब्ध एक प्रकार से कुछ-कुछ जमा पूंजी है जिसमें पुरूषार्थ रूपी नई पूंजी को जमा करने से प्रारब्ध प्रभावित होता है, घटता-बढ़ता है। हम कौन हैं व क्या हैं? का उत्तर आ चुका है। हमारा जन्म हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों व कुछ इस जन्म के कर्मों के फलों को भोगने के लिए हुआ है। हमारा उद्देश्य दुःखों की निवृत्ति है। दुःखों की सर्वथा निवृत्ति ही मोक्ष है जो कि वेदानुसार कर्म करने व कर्तव्य पालन का परिणाम है।

ईश्वर ने सृष्टि बनाकर अमैथुनी सृष्टि की जिसमें मनुष्यों, स्त्री व पुरुषों को बनाया। जो मनुष्य बने थे वह न तो कोई भाषा जानते थे और न ही उन्हें कर्तव्य व अकर्तव्य का बोध था। इसके लिए ईश्वर ने उन्हें चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का ज्ञान आदि प्राचीन चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा को दिया। यह चार ऋषि मनुष्य थे तथा उनकी जीवात्मा की पवित्रता के कारण ईश्वर ने इन्हें अपना ज्ञान दिया। इन्हीं ऋषियों ने इस ज्ञान को ब्रह्माजी को दिया और इस प्रकार से ज्ञान के अध्ययन व अध्यापन की परम्परा आरम्भ हुई। यदि ईश्वर ज्ञान न देता तो सारे मनुष्य अज्ञानी रह जाते जिसका कारण यह है कि मनुष्य स्वयं भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर सकते। एक भाषा व कुछ ज्ञान मिल जाने पर सम्भावना होती है कि वह उस ज्ञान की उन्नति कर सके परन्तु भाषा को उत्पन्न करने की क्षमता तो मनुष्य या मनुष्य के समूह में किंचित भी नहीं है। यह वेदों की भाषा वैदिक संस्कृत ही संसार की सबसे प्राचीन, आदिकालीन, ईश्वर प्रदत्त तथा हमारे ऋषि-मुनियों द्वारा प्रयोग की गई भाषा है। आज भी तुलनात्मक दृष्टि से कह सकते हैं कि चार वेदों के समान संसार में अध्यात्म, समाज, राजनीति, विज्ञान आदि सभी सत्य विद्याओं का कोई ग्रन्थ नहीं है जिसकी वेदों से तुलना की जा सके। इस विषय को विस्तार से जानने के लिए महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थ सहायक हैं।

यह संसार किसने बनाया है? इस प्रश्न पर कुछ विचार करते हैं। हम सब यह समझते हैं कि मानव अकेला या सब मिलकर भी इस आधिदैविक जगत् जिसमें ब्रह्माण्ड, सूर्य, पृथिवी, व चन्द्र आदि लोक लोकान्तर हैं, को बना नहीं सकते। इससे ज्ञात होता है कि यह जगत् अपौरूषेय रचना है। अपौरूषेय रचना का अर्थ है जिसे मनुष्य द्वारा न बनाया जा सके परन्तु जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष हो, वह परमात्मा द्वारा निर्मित सिद्ध होता है। इसी प्रकार से हमारे मानव शरीर व इतर प्राणियों के शीरीर भी अपौरूषेय रचनायें हैं। हमारे शरीर बनाकर माता-पिता के द्वारा हमें मानव जन्म देने व सृष्टि का निर्माण करने का ईश्वर का प्रयोजन हमारे पूर्व

जन्मों के कर्मों का फल सुख व दुख के रूप में हमें देना है। यदि ईश्वर ऐसा न करे तो उस पर आरोप आता है कि जो कार्य वह कर सकता है, वह उसने क्यों नहीं किया? इसी प्रकार से यदि वह यह सब न करता तो जीव आकाश में निरर्थक होकर रहता। उसे जो सुख-दुख की प्राप्ति अब जन्म लेकर हो रही है, वह न होती। दोनों स्थितियों की तुलना करने पर बुद्धिमान व्यक्ति यही कहेगा कि ईश्वर ने जीवात्मा को मनुष्य जन्म वा जीवन देकर हमें कृतार्थ किया है। सृष्टि को बनाकर तथा जीवात्मा को मानव शरीर देने का ऐसा महान् कार्य कोई बहुत बड़ी सर्वशक्तिमान, दयालु स्वभाव, धार्मिक, पवित्र व दान की प्रवृत्ति वाली सत्ता ही कर सकती है और वह ही ईश्वर है और इन प्रत्यक्ष रचनाओं, कारणों व कार्यों से उसके अस्तित्व की सिद्धि भी होती है। हम संसार में मनुष्यों को देख कर कई बार सोचते हैं कि एक व्यक्ति जन्म से विद्वान व धनी परिवार में जन्मा और अन्य उससे कुछ अच्छी और अनेक बुरी अवस्था वाले निर्धन व अशिक्षित परिवारों में जन्में हैं, जहां दो समय के भोजन की भी व्यवस्था नहीं है। इसका एक कारण तो पूर्व जन्म के हमारे कर्म व प्रारब्ध हैं, जिसके अनुसार ईश्वर ने माता-पिता व देश-स्थान आदि का चयन कर हमें जन्म दिया। दूसरा दोष संसार की व्यवस्था का है जिसे हममें से कुछ मानवों द्वारा बनाया गया है। जिन लोगों के हाथों में व्यवस्था व शासन के सूत्र हैं, उनकी अपनी निजी कुछ व अधिक अक्षमता, दुर्बलता, स्वार्थ, अज्ञानता, दुराग्रह आदि अनेक कारण इस पक्षपातयुक्त दोषपूर्ण व्यवस्था के हैं। ऐसे अविवेकी लोग समाज में लोगों के लए निष्पक्ष व्यवस्था न देने के लिए ईश्वर की ओर से वर्तमान व भविष्य के जन्म-जन्मान्तरों में दण्डनीय हैं। इसको इस प्रकार से भी समझ सकते हैं कि परिवार की सम्पत्ति को सभी उत्तराधिकारी अपने ज्ञान-अज्ञान, बल, छल-कपट, प्रभाव व स्वार्थ आदि से असमान रूप से परस्पर बांट लें। कमजोर को कुछ न मिले या बहुत कम मिले तो जिस प्रकार सम्पत्ति का सामर्थ्यवान् स्वामी अन्याय व पक्षपात करने वालों को दण्ड देता है उसी प्रकार से ईश्वर आज सुखों का भोग कर रहे व आवश्यकता से कहीं अधिक सम्पत्ति रखने वालों के प्रति भी अवश्य करेगा।

हमने ईश्वर, जीवात्मा व सृष्टि के बारे में कुछ-कुछ जाना है। अब ईश्वर के स्वरूप को कुछ और जानने का प्रयास करते हैं। महर्षि दयानन्द विगत 5000 वर्षों में संसार में उत्पन्न हुए श्रेष्ठ बुद्धि, ज्ञान, योग, उपासना, निष्पक्षता, परोपकार, ईश्वर भक्ति, देश भक्ति आदि कार्यों में प्रमुख व उच्चतम समाधि प्राप्त मनीषि रहे हैं। हम समझते हैं कि उन्होंने ईश्वर, जीवात्मा व सृष्टि को जितना जाना था, सम्भवतः हम आज भी नहीं जान पाये व जान पायेंगे। आर्य समाज का प्रथम नियम बनाते समय उन्होंने ईश्वर के विषय में महनीय बात लिखी है। वह कहते हैं सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उनका सबका आदि मूल परमेश्वर है। इसके अनुसार सभी सत्य विद्याओं का आदि मूल परमेश्वर है तथा इसके साथ जिस विद्या से सभी पदार्थों का ज्ञान होता है उस विद्या का आदि कारण या मूल कारण भी परमेश्वर है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वैज्ञानिकों ने जो पदार्थ खोजे हैं, जो सत्य विद्यायें उन्होंने अपने पुरूषार्थ व विवेक से प्राप्त की हैं, उन सब विद्याओं, पदार्थों के ज्ञान का मूल कारण भी वह परमात्मा ही है। आज भी हमारे वैज्ञानिक इस सिद्धान्त को समझ नहीं सके या स्वीकार नहीं करते हैं। हमें लगता है कि महर्षि दयानन्द की मान्यता स्वतः सिद्ध प्रमाण है। यदि वैज्ञानिक या अन्य कोई इसको नहीं मानता तो फिर यह उसकी अपनी मान्यता, अविद्या या अज्ञान आदि हैं। इसका कारण यह है कि यह सृष्टि, इसके अणु व परमाणु व इन परमाणु का कारण तत्त्व, कारण प्रकृति, सभी जड़ वा चेतना शून्य पदार्थ हैं। जड़ पदार्थ ज्ञान से शून्य होते हैं तथा चेतन पदार्थ में ज्ञान-गति-कर्म होना उसका स्वाभाविक धर्म या गुण होता है। कुछ ज्ञान आत्मा में होता है और सम्पूर्ण ज्ञान परमात्मा में क्योंकि यह दोनों चेतन पदार्थ हैं। जीवात्मा एक देशी होने से अल्पज्ञ है तो परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वज्ञ अर्थात् ईश्वर में विद्या व ज्ञान की पराकाष्ठा है। अतः ईश्वर सब सत्य विद्याओं और पदार्थों का आदि कारण अर्थात् सृष्टि व

प्रलय अवस्था में सर्वज्ञता के ज्ञान से युक्त है तथा सृष्टि उत्पत्ति काल में जड़ कारण प्रकृति के परमाणु, अणु व कार्य जगत को बनाने वाला वह एकमात्र निमित्त कारण है। महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज के दूसरे नियम में ईश्वर के स्वरूप पर विहंगम दृष्टि से प्रकाश डाला है जिसका आधार वेद व वैदिक साहित्य के साथ उनकी अपनी ऊहा व बुद्धि की अन्यतम क्षमता है। उनका बनाया हुआ यह नियम बताता है कि- ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योय है। इसके अतिरिक्त ईश्वर इस संसार का पालन कर्ता व प्रलयकर्ता है। ईश्वर के इस स्वरूप को जान लेने के पश्चात् सभी आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक विषयों से जुड़े प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं जो कि सत्य व यथार्थ होने से स्वयं अपनी स्वीकारोक्ति जीवात्मा को कराते हैं।

यह तथ्य तो ज्ञात हो गया है कि ईश्वर निःसन्देह जीवात्मा का परम हितकारी व सहयोगी है। वह माता-पिता, मित्र, बन्धु व सखा के समान है। अब हमें यह देखना है कि ईश्वर ने तो अपने कर्तव्य निश्चित किए हुए हैं और वह उनका पूरा-पूरा पालन कर रहा है। हम जीवात्माओं वा मनुष्यों के उसके प्रति क्या कर्तव्य हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हमे अपने-अपने मन, वचन व कर्मों से उसका धन्यवाद करना है। धन्यवाद कहने से धन्यवाद नहीं हो जाता अपितु धन्यवाद की भावना बनाकर उसके अनुसार आचरण करना होता है। ईश्वर का धन्यवाद करने के लिए हमारे ऋषियों ने ब्रह्मयज्ञ व सन्ध्या आदि का कर्तव्य निर्धारित किया है। सन्ध्या क्या है, ईश्वर के उपकारों के लिए उसके प्रति भली-भांति धन्यवाद करना है। धन्यवाद किस प्रकार से कि पहले उसके उपकारों को जाना जाये। फिर उनका ध्यान करते हुए ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की जाये और अपने गुण, कर्म व स्वभाव ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव के अनुरूप बनायें, अपने ईश्वर के विपरीत गुण आदि को बदलें व ईश्वर के गुणों को आचरण में लायें। इसी का नाम वैदिक जीवन पद्धति है। ऋषियों ने गहन चिन्तन कर पंचमहायज्ञों को नित्य-कर्तव्य के रूप में निर्धारित किया है। इसके करने का फल भी महर्षि दयानन्द ने यह कह कर बताया है कि जिस प्रकार से शीत से आतुर मनुष्य की शीत वा ठण्ड अग्नि के समीप जाने पर निवृत हो जाती है। उसी प्रकार से ईश्वर की उपासना से मनुष्य के दुःख व दुर्गुण व दुर्व्यस्न दूर होकर ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव के अनुरूप हो जाते हें और आत्मा का बल इतना बढ़ता है कि पहाड़ के समान दुःख प्राप्त होने पर भी वह घबराता नहीं है। क्या यह छोटी बात है? यहां भी ईश्वर के उपकारों का सन्ध्या द्वारा धन्यवाद करने पर संसार की सबसे बड़ी वस्तु, निर्भयता व निडरता, ईश्वर उपासक को प्राप्त होती है। वह यह कि पहाड़ के समान दुख आने पर भी उसमें उस दुख पर विजय प्राप्त करने की शक्ति व क्षमता ईश्वर से आती है। इससे तो यह सर्वमान्य सिद्धान्त या मान्यता निश्चित हो जाती है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति को महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों को समझ कर सन्ध्या करनी चाहिये जिससे अन्य पदार्थों के अतिरिक्त अधिक से अधिक निडरता व निर्भयता का लाभ प्राप्त किया जा सके। यहां यह भी कह देना उचित होगा कि प्रत्येक मनुष्य सांसारिक सुख चाहता है जो धन से प्राप्त होता है। धन पुरूषार्थ से अर्जित होता है। पुरूषार्थ के लिए शारीरिक बल, बौद्धिक व मानसिक ज्ञान-बल-शक्ति चाहिये। यह भी पुरूषार्थ एवं सात्विक जीवन से ही मिलती है। सात्विक जीवन वेदानुकूल कर्मों को ही कहते हैं। अतः वैदिक जीवन व्यतीत करते हुए सांसारिक सुखों की प्राप्ति भी होती है जिससे जीवन में आनन्द हिलोरें मारता है। इन सब उपलब्धियों का आधार ईश्वर ही सिद्ध होता है, अतः सभी मनुष्यों को महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों से जीवन के सभी पक्षों का ज्ञान प्राप्त कर ईश्वर की शरण में जाना चाहिये। "भरोसा कर तू ईश्वर पर, तुझे धोखा नहीं होगा। यह जीवन बीत जायेगा, तुझे रोना नहीं होगा।" पंक्तियों से हम लेख को विराम देते हैं। ❑❑

खण्डन क्यों और खण्डन कैसे

(राम निवास गुणग्राहक)

आज आर्य समाज से खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति समाप्त होती चली जा रही है। अन्य मत-पन्थ वालों की तरह हमारे कर्णधार भी यह कहने लगे हैं कि किसी की बुराई करने का युग चला गया। आज लोगों में सहन शक्ति नहीं रही। किसी की थोड़ी सी आलोचना करने पर वह नाराज होकर चला जाता है। हम अपने सिद्धान्तों की बात करें, जो सत्य है वह बता दें। ऐसे ही अन्य कई तर्क इस बात के लिए दिये जाते हैं कि मूर्ति पूजा आदि धार्मिक अन्धविश्वासों का खण्डन न किया जाए। हमारे खण्डन पक्ष में इस्लाम, इसाई एवं जैन, बौद्ध आदि मतों के जानने वाले विद्वान् नहीं रहे। आर्य समाज में स्वामी वेदानन्द दयानन्द तीर्थ, पं. धर्मदेव विद्या मार्तण्ड, पं. शान्तिप्रकाश, पं. राम चन्द्र देहलवी और सन्त प्रवर लक्ष्मण जी जैसे विद्या के समुद्र अब तैयार नहीं हो रहे। राजेन्द्र जी जिज्ञासु जैसे कुछ पुरानी पीढ़ी के विद्वान् जीवन के अन्तिम पड़ाव पर हैं। कल हमारे मध्य ऐसे लोगों का भयंकर अभाव हो जाने पर किन्हीं मत-पन्थ वालों से परस्पर संवाद की सम्भावना बन गई तो आर्यसमाज अपने गौरव की सुरक्षा कैसे कर सकेगा? दूसरी बात हमें ये सोचनी होगी कि महर्षि के सामने कई बार मूर्तिपूजा का खण्डन छोड़ देने के बदले बड़े-बड़े प्रलोभन प्रस्तुत किये, लेकिन महर्षि उत्तर देते रहे। बाइबिल और कुरान आदि की गलत बातों का खण्डन करने पर भय भी दिखाए गए, अन्य अन्ध विश्वासों व पाखण्डों का खण्डन करने के कारण प्राण हरण की चेष्टाएँ भी हुई, लेकिन ऋषि दयानन्द ने बुराइयों का खण्डन करना नहीं छोड़ा। इससे पता चलता है कि खण्डन करना विद्या और सत्य के प्रचार का आवश्यक अंग है। जिस खेत में कटीली झाड़ियाँ खड़ी हों, घास फूँस जैसे खरपतवार खड़े हों, क्या उस खेत में यूँ ही अन्न के दाने बिखेर कर कोई बुद्धिमान किसान अच्छी फसल की आशा कर सकता है? क्या कोई बुद्धिमती देवी किसी अपवित्र बर्तन में खीर-हलवा जैसी पवित्र पौष्टिक वस्तु को डालकर अपने परिवारी जनों (पति-पुत्रादि) को खिला सकती है? क्या संसार में अच्छी और बुरी वस्तुओं में अन्तर करना बुरा माना जाता है? जब मिलावट खोरी का बाजार गर्म हो, जब असली वस्तु बताकर नकली माल बेचने के संगठित अभियान योजनाबद्ध ढंग से बड़े पैमाने पर चलाए जा रहे हों- तब ठगी जा रही जनता को असली-नकली वस्तु का ज्ञान नहीं कराना चाहिए? क्या तब उन्हें मिलावटी वस्तुओं के खाने-पीने से होने वाले शारीरिक व आर्थिक नुकसान के प्रति सावधान नहीं करना चाहिए?

ऐ आर्यो! तनिक सोचो कि खण्डन यही तो है। धर्म के नाम पर अधर्म का बोलबाला एक ईश्वर के नाम पर चित्र-विचित्र प्रस्तर-खण्डों पर मिष्टान्न डालना, सिर झुकाना, ईश्वर की अटल कर्म फल व्यवस्था को ग्रह-नक्षत्रों, राशि-रत्नों, लेख लकीरों के हवाले कर देना, गण्डे-ताबीज, तिलक-छापे आदि के अन्ध विश्वास धर्म क्षेत्र के झाड़ी-झंखड़ हैं या नहीं? भूत-प्रेत, जन्मपत्री, कुण्डली मिलाना, मृत पितरों का श्राद्ध, भूखे-प्यासे रहने वाले व्रत-उपवास, तीर्थस्नान से पाप मुक्ति आदि पाखण्ड पूर्ण प्रवृत्तियाँ क्या सत्य वैदिक धर्म के अंग माने जा सकते हैं, यदि नहीं माने जा सकते तो क्या ये पीतल को सोना, नहीं नहीं- काले कोयले को पीला पोतकर सोना बताकर बेचने जैसा अपराध नहीं है? विचार करने पर तो यह उससे भी अधिक भयंकर अपराध प्रतीत होता है फिर इसका खण्डन क्यों नहीं करना चाहिए। आर्यो! अगर आप ऋषि ग्रन्थों का थोड़ा-बहुत भी स्वाध्याय करते हो तो आपके मस्तिष्क के एक कोने में पड़े कुछ ऋषि-वाक्यों को ताजा करना चाहता हूँ।

सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में यज्ञ का

महत्त्व बताते हुए एक प्रश्न- "केशर कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर (इत्र) आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा" के उत्तर में स्वामी जी लिखते हैं- 'उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकालकर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदक शक्ति नहीं है। और अग्नि का ही सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्ध युक्त पदार्थों को छिन्न भिन्न और हल्का करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है।" वैसे समझदार को संकेत ही बहुत होता है, फिर भी कुछ कम समझ वाले भी समझ जाएं इसके लिए तीसरे समु. से ही एक उद्धरण और देखें। पढ़ने योग्य और न पढ़ने योग्य ग्रन्थों की जानकारी देकर ऋषि दयानन्द न पढ़ने योग्य (अनार्ष) ग्रन्थ क्यों नहीं पढ़ने चाहिए, यह बताते हुए लिखते हैं- 'जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे, तो मिथ्या भी उनके गले लिपट जाए। इसलिए "असत्य मिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति"- असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे ही छोड़ देना चाहिए जेसे विषयुक्त अन्न को।" इन महत्त्वपूर्ण वाक्यों में एक बहुत जीवनोपयोगी बात ऋषि यह कहना चाहते हैं कि गृहस्थ दूषित वायु के रहते हुए केशर कस्तूरी आदि की सुगन्ध गृहस्थ जनों को स्वस्थ्य व सुखी नहीं रख सकती, यज्ञाग्नि की भेदक शक्ति गृहस्थ दूषित वायु को छिन्न भिन्न व हल्की करके बाहर निकाल कर घर को पूर्ण पवित्र, निरोगप्रद कर देती है। भाव यह है कि जब तक गृहस्थ दूषित वायु घर में रहेगी, अग्नि की भेदक शक्ति से छिन्न-भिन्न होकर बाहर न निकलेगी तब तक अन्य प्रकार से प्राप्त सुगन्धि पूर्ण लाभकारी नहीं होगी क्योंकि उसमें दूषित वायु भी मिली है। सुगन्धित वायु का लाभ लेने के लिए प्रदूषित वायु का घर से बाहर निकलना पहली शर्त है। इस बात को भली भाँति समझने वाला खण्डन का विरोध कर ही नहीं सकता। वह जानता है कि जब तक अन्ध विश्वासों व पाखण्डों से प्रदूषित विचार व मान्यताएँ जिस मन-मस्तिष्क से सर्वथा बाहर नहीं निकल जाती, तब तक धर्मोपदेश रूप सत्य ज्ञान किसी व्यक्ति का पूर्ण हित नहीं कर सकता। अन्ध विश्वास व पाखण्डपूर्ण भावनाएँ-मान्यताएँ सत्य सिद्धान्तों व धर्मोपदेशों को पैर ही न टिकाने देंगी। अगर सत्य और असत्य धर्म और अधर्म एक साथ मिलकर रह सकते तो ऋषि दयानन्द को अनार्ष (मिथ्या) ग्रन्थों, असत्य मिश्रित सत्य ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने का निषेध नहीं करना पड़ता। हमारी छोटी बुद्धि में स्वाध्याय व सन्ध्योपासना के बिना ऐसी बातें ठीक तरह से नहीं आतीं इसीलिए हम खण्डन के महत्त्व को नहीं समझ पाते।

आर्य समाज के क्षेत्र में यह बात बहुत प्रचलित है कि स्वामी दयानन्द जी को मंत्र- "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव" बहुत प्रिय था। यजुर्वेद का भाष्य करते हुए ऋषिवर ने प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में इसे अंकित किया है। यज्ञानुष्ठान से पूर्व स्तुति प्रार्थनोपासना का प्रारम्भ इसी से किया है तो अन्तिम मंत्र- 'अग्ने नय सुपथा' खण्ड - 'युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो' में भी 'हमसे कुटिलता युक्त पाप रूप कर्मों को दूर कर दीजिए' जैसी प्रार्थना ही की है जो प्रथम मंत्र के भावों से पूर्णतः मेल खाती है। दोषों, दुगुर्णों दुर्व्यसनों, दुरितों को दूर करने सम्बन्धी ऋषि की प्रबल भावना ने ही ऋषि की कटु खण्डन करने के लिए प्रेरित किया। वे इस बात को भली भाँति जानते और व्यवहार के धरातल पर अच्छी प्रकार मानते भी थे कि असत्य मिश्रित सत्य और अधर्म (पाखण्ड व अन्ध विश्वास) मिश्रित धर्म कल्याण के स्थान पर अकल्याण ही करता है। फिर भी न जाने क्यों हम अपने व दूसरों के जीवन में सत्य के साथ असत्य की और धर्म के साथ अधर्म की घुसपैठ करते-कराते रहते हैं। हमें इस घालमेल से बाहर निकला ही होगा।

अब थोड़ा सा यह विचार कर लेना भी सुविधा जनक होगा कि खण्डन करें तो कैसे करें? खण्डन करने की पहली शर्त तो यह है कि हमारे स्वयं के जीवन में खण्डन योग्य कुछ न हो। अगर हमारे जीवन में कथनी और करनी का अन्तर है, हमारे विचारों में विसंगति है तो हम खण्डन करने के सर्वथा अयोग्य हैं। पढ़ने-पचाने में कड़वा न लगे तो यहां यह बता देना भी उचित है

कि आर्य समाज ने अपनी इसी दुर्बलता के कारण खण्डन करने से मुँह फेरा है। हमारे कर्णधार व कर्त्ता धर्त्ता कहलाने वालों के जीवन में जब पवित्रता और प्रखरता नहीं रही तो वे किस मुँह से किसी का दोष निकालते? ध्यान रहे खण्डन से बचने की प्रवृत्ति यह घोषणा करती है कि हमारा स्वयं का जीवन खण्डित है। हमारी पहली पीढ़ी के आर्यों का जीवन कितना तपा हुआ था, कितना ऊँचा और उज्जवल था? कितना निष्कलंक और निरपराध था। वे जीवन की अन्तिम श्वाँसों तक शास्त्रार्थ की चुनौती देते हुए चले गए। इतनी निडरता, इतनी तेजस्विता, इतना आत्म विश्वास, अपनी विद्या और वाणी पर कैसा अटूट भरोसा था उन्हें? सौभाग्य से विद्या और वाणी पर कैसा अटूट भरोसा था उन्हें? सौभाग्य से विद्या और वाणी के धनी तो आज भी हमारे पास बहुत हैं? प्रभु कृपा से 'जिज्ञासु' जी एवं डॉ. धर्मवीर जी जैसे निष्कलंक जीवन के धनी भी हमारे मध्य वर्तमान हैं, लेकिन थोड़ा सा अन्तर यह है कि पहली पीढ़ी के सब आर्य जन ऐसे तपः पूत आर्य विद्वानों के पीछे अपनी पूरी शक्ति से खड़े रहते थे और आज हमारे ही कुछ लोकैषणा के मारे कथित आर्य अपनी पूरी शक्ति से उनके पीछे पड़े हुए हैं। इस 'खड़े' और 'पड़े' के अन्तर ने आर्य समाज को कितनी हानि पहुँचाई है इस पर कभी बाद में लिखेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि हम आर्य समाज को अपनी सिद्धान्त निष्ठा व संगठन शक्ति से पुन- वही स्वरूप प्रदान करें, जिससे वह पुनः अधर्म-असत्य का प्रबल खण्डन कर सके। इसके लिए अत्यावश्यक है कि हमारा अपना जीवन अखण्डनीय हो।

खण्डन के लिए दूसरी आवश्यकता है लोकहित (उपकार) की प्रबल भावना। होता क्या है कि हमारा पुत्र-पौत्र या परिजन कोई गलती करे तो हम तुरन्त उसे सुझाते हैं कि तुम यह गलत कर रहे हो। इस गलती का बुरा परिणाम निकलेगा। उस गलती से होने वलो दुःख परिणामों को, जो भविष्य में भोगने पड़ेंगे अच्छी प्रकार प्यार की भाषा में समझाते हैं। लेकिन कोई पराया बालक गलती करें तो उस पर उतना ध्यान नहीं देते, ध्यान भी देंगे तो उसे डाँटने-फटकारने की भाषा में कुछ कहेंगे। कुल मिलाकर वैसा व्यवहार तो नहीं करेंगे जैसे अपने बालक के साथ करते हैं। यह अपने पराये का भेद हमारे व्यवहार में बहुत बड़ा अन्तर ला देता हैं जिनका हृदय "वसुधैव कुटम्बकम्" की भावना से परिपूर्ण है, जो वेद की भाषा में 'मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजु. 36.18) सब प्राणियों को मित्र (स्नेह) की दृष्टि से देखता है, वह किसी को गलत रास्ते पर चलते हुए, धर्म के नाम पर अधर्म और सत्य के नाम पर असत्य को गले लगाते देखकर चुप रह ही नहीं सकता। गलत बात का खण्डन करना जन कल्याण की दिशा में उठाया गया हमारा पहला सार्थक कदम है जो मानव समाज को सर्वाधिक लाभ पहुँचाने वाला है। विश्व कल्याण की भावना से माँ जैसा विशाल हृदय लेकर जो व्यक्ति खण्डन करने निकलता है, उसकी वाणी में माधुर्य व प्रभावोत्पादकता निश्चित रूप से बहुत ऊँचे स्तर की होती है। यह बताना भी विषय की पूर्णता के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे जीवन में प्राणी मात्र को अपना मानने की भावना प्रभु उपासना से ही आती है। हम संध्योपासना में जब 'महः पुनातु हृदये' का जाप करते हैं और योगदर्शन के महर्षि पतञ्जलि जी के सूत्र- 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्' के अनुसार आपके साथ भावना भी बनाते हैं तो अवश्य वह महान् परमेश्वर हमारे हृदय को भी महान् बनाकर पवित्र करता है। हम प्रभु से माँगी हुई महानता को हृदय में बसाकर अपने हृदय को भी ऐसा महान् बना लें कि उस हृदय में सबके लिए अपनापन भरा हो।

खण्डन कैसे करें, इसके लिए तीसरा महत्त्वपूर्ण गुण है विद्या और विवेक का होना। विद्या और विवेक के बिना तो मनुष्य का स्वयं का जीवन अस्त-व्यस्त और संकट ग्रस्त रहता है। विद्या-विवेक के अभाव में हम अपना ही कल्याण नहीं कर सकते, हमारा स्वयं का जीवन अखण्डित नहीं रहता ऐसे में भला हम दूसरों का कल्याण क्या कर सकेंगे? यहाँ एक बात और विचारणीय है, वह यह कि अपना जीवन उचित रीति से जीने के

लिए, स्वयं धर्मपथ पर चल सकें, प्रभु भक्ति व परोपकार कर सकें इसके लिए तो थोड़ी सी विद्या व थोड़े से विवेक से काम चल जाता है, संसार में ऐसे बहुत व्यक्ति मिल जाएँगे जो बहुत बड़े विद्वान् तो नहीं लेकिन उनका जीवन बड़ा सरल, पवित्र और अच्छा होता है। ऋषि दयानन्द भी लिखते हैं कि सभी का विद्वान् होना तो सम्भव नहीं, लेकिन धर्मात्मा सभी हो सकते हैं अपना जीवन धार्मिक बनाने के लिए थोड़ी विद्या से ही काम चल जाता है लेकिन दूसरों को समझा-बुझाकर, उनके दोषों को दूर करने के लिए थोड़ी विद्या से काम नहीं चलता। आज के युग में पता नहीं क्यों मनुष्य को सद्गुणों, सज्जनों और सत्कर्मों की अपेक्षा दोषों दुर्गुणों दुर्जनों के प्रति अधिक लगाव है। अपने जीवन में व्याप्त दोषों व दुर्गुणों की बात करें तो आज का मानव उन्हें छोड़ने को तैयार ही नहीं होता। आज के भोले मानव ने यह मान लिया है कि छल, कपट, मिलावटखोरी, रिश्वतखोरी आदि दोषों के बिना काम ही नहीं चलता। यही स्थिति धार्मिक जगत् में व्याप्त अन्धविश्वास व पाखण्डों की है। परमात्मा निराकार है, सर्वव्यापक है, न्यायकारी है और वह एक है- यह बात आज किसी की समझ में नहीं आती। मानव-मन में अन्धविश्वास और पाखण्ड इस सीमा तक अपनी जगह बना चुके हैं कि आज के मानव को समझाना जितना कठिन है उसे बहकाना उतना ही सरल है।

किसी को सत्य बात समझाने लगो तो सरलता से समझ में आने वाली बातों को लेकर भी वह ढेर सारे तर्क-वितर्क और कुतर्क करने लग जाता है। बहुत से लोग तर्क वितर्क केवल इसीलिए करते हैं कि उनको सत्य न स्वीकार करना पड़े। आप किसी धार्मिक अन्धविश्वास का खण्डन करने चलो तो वह आपको अर्जुनी व दुर्योधनी दोनों प्रकार के तर्कों में उलझाकर आपकी बात को काटने का प्रयास करेगा। अर्जुनी तर्क उन्हें कहते हैं जो सत्य तर्क दृष्टि न पहुँच पाने की अवस्था में, केवल अपने जानी मानी हुई सत्य लगने वाली मान्यताओं की पुष्टि में सरल हृदय से दिये जाते हैं जैसे कि अर्जुन ने श्री कृष्ण के सामने (गीता के प्रारम्भ में) रखे थे। यहाँ कोई हठ व दुराग्रह नहीं होता इसलिए ऐसे तर्क सत्य को स्वीकारने में बड़ी बाधा नहीं डालते। दुर्योधनी तर्क मूलतः सत्य से आँखें चुराने वाले कुतर्क होते हैं। ये 'मैं ना मानू' से शुरू होकर 'मैं ना मानू' पर ही समाप्त होते हैं ऐसे दुराग्रहों और पूर्वाग्रहों से भरे हुए मन-मस्तिष्क वाले लोगों के सामने आप थोड़ी विद्या के बल पर कैसे सफलता प्राप्त कर पाओगे? एक कहावत है- 'सियार के शिकार को निकलो तो हथियार सिंह वाले भी साथ रखो' जिस जंगल में सियार मिलते हैं वहाँ सिंह भी विचरण करते हैं। जंगल में सिंह का सामना होने पर आप यह कहकर नहीं बच सकते कि सिंह महाराज! हम आपसे कुछ नहीं कहेंगे, हमें तो मात्र सियार का शिकार करना है इसलिए आप अपने रास्ते जाओ और हम अपने रास्ते जाते हैं। इसलिए धार्मिक अन्ध विश्वासों का खण्डन करने के लिए आपको धर्मतत्व का गहरा ज्ञान प्राप्त करना ही पड़ेगा। धर्मतत्त्व को भली भाँति जानने के लिए वेद व वैदिक साहित्य का मनोयोग से स्वाध्याय करना चाहिए। वेद विद्या के साथ-साथ संध्योपासना व योगाभ्यास के द्वारा विवेक और प्रबल आत्मबल की प्रप्ति भी बहुत आवश्यक है। इन कुछ आवश्यक गुणों के बिना आप अन्ध विश्वासों का सफल खण्डन नहीं कर सकते और अन्ध विश्वासों का खण्डन किये बिना हम मानवता का पूर्ण हित नहीं कर सकते। प्रत्येक आर्य के लिए यह अनिवार्य है कि वह - 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का केवल जयघोष बोलकर ही काम न चलाए। जो अपने आदर्शों और उद्घोषों को सफल और साकार करने के लिए पुरूषार्थ नहीं करते वे संसार से मिट जाया करते हैं। हम अगर ऋषि के तप-तेज को, उनकी जीवन भर की अमूल्य उपलब्धियों को मिटने देना नहीं चाहते तो हमें धार्मिक अन्ध विश्वासों, पाखण्ड पूर्ण परम्पराओं और धर्म के नाम पर समाज में फैली हुई अधार्मिक प्रवृत्तियों के विरूद्ध खण्डन का खडग (तलवार) लेकर शास्त्रार्थ समर में कूदने का साहस दिखाना होगा।

❑❑

इतिहास को बिगाड़ती कहानियां (1)

(राजेशार्य आट्टा)

प्रिय पाठकवृन्द! प्रत्येक समाज में कुछ कहानियाँ प्रचलित होती हैं। इनमें कुछ तो केवल मनोरंजन के लिए ही होती हैं, कुछ शिक्षा के लिए होती हैं- ये काल्पनिक भी होती हैं और इतिहास पर आधारित भी और कुछ वास्तविक इतिहास भी होती हैं। यदि ये अपने-अपने क्षेत्र में रहें तो कोई बात नहीं, गड़बड़ तब होती है जब ये आपस में मिल जाएं। पं. गंगा प्रसाद उपाध्याय जी ने लिखा है- "पौराणिक काल में साहित्यिक मनोरंजन के लिए मनमानी कथाएँ गढ़ ली गईं। ऐसे किस्से हर युग में बनाये जाते हैं। परियों की कहानियाँ, जासूसी उपन्यास, चमत्कार चित्रण; ये साहित्यकारों की कल्पना शक्ति और पाठकों की विनोदप्रियता के क्रीड़ा क्षेत्र हैं। परन्तु जब धार्मिक ग्रन्थों में इनका पुट दे दिया जाता है तो ये मनोविनोद के स्थान में भीषण भ्रान्तियों और दुःखदायी प्रथाओं के हेतु बन जाते हैं।"

इसी प्रकार शिक्षा के लिए इतिहास के व्यक्ति से सम्बन्धित जोड़ी (बनाई) गई कहानियाँ शिक्षा तो दे सकती हैं, पर इतिहास में भ्रान्ति उत्पन्न करती हें इससे एक पक्ष भले ही ऊपर उठ जाए पर दूसरा पक्ष बहुत नीचे भी जा सकता है। यथा- राम को आदर्श जन सेवक दिखाने के लिए लोगों (किसी कवि) ने कल्पना की कि उन्होंने मात्र एक व्यक्ति द्वारा मिथ्या आक्षेप करने से ही अपनी प्राण प्यारी सीता का भी त्याग कर दिया। पर हमने यह नहीं सोचा कि इससे राम आदर्श व न्यायकारी राजा सिद्ध नहीं होते। राम को विषय की जाँच पड़ताल करके ही अपराधी को दण्ड देना चाहिए था, न कि निरपराध सीता को। इसके साथ ही हमने राम को मिथ्या प्रतिज्ञा वाला भी बना दिया। क्योंकि अग्नि परीक्षा के बाद राम ने कहा था कि सीता पूर्णतः शुद्ध है, मैं इसे उसी प्रकार नहीं छोड़ सकता, जैसे सूर्य अपनी चमक को। यदि वास्तव में ऐसी अवस्था आती तो राम सिंहासन छोड़ सकते थे पर अपनी प्रतिज्ञा नहीं।

एक बार मैं किसी मित्र के साथ महाराणा प्रताप के विषय में किसी सभा को सम्बोधित करने जा रहा था। रास्ते में मित्र ने उपहास करते हुए कहा कि बोलना तो आपको ही है, मुझे तो महाराणा प्रताप के विषय में यही पता है कि बिल्ला रोटी उठाकर ले गया था और भूखे बच्चे चिल्लाने लगे थे।

इसी प्रसंग को लेकर किसी आदरणीय विद्वान् ने मुझे सुझाव दिया था- महाराणा प्रताप ने देश की स्वतंत्रता के लिए कितना कष्ट झेला था, इसी को दर्शाने के लिए यह प्रसंग है, आप इतना नुकताचीनी मत किया करो। मैंने कहा- मान्यवर, इस घटना का तात्कालिक स्रोतों में वर्णन नहीं है। अमरसिंह हल्दी घाटी युद्ध के बाद लगभग 18 वर्ष का जवान है, चिल्लाने वाला बच्चा नहीं। उस समय महाराणा का अकबर के सेनापति शाहबाज खाँ से मुकाबला हो रहा था। महाराणा के सैनिक भी तो थे, फिर वे क्या खाते होंगे? और इससे अगला कदम भी देखिये कि महाराणा प्रताप ने अकबर की अधीनता स्वीकारते हुए अकबर को पत्र भी लिख दिया, क्या आप इससे सहमत हैं? जबकि अकबर के इतिहासकार ऐसे किसी पत्र का वर्णन नहीं करते। अब आप ही बताइये, ऐसी कल्पना करके हमने स्वाभिमानी चट्टान (प्रताप) के गौरव को मिट्टी में नहीं मिलाया क्या?

इसी प्रकार भामाशाह के त्याग को दिखाने के लिए हमने साहस की मूर्ति (प्रताप) को निराशा के इतने गहरे गर्त में गिरा दिया कि वह अपनी प्रतिज्ञा (पूर्वजों के

राज्य को पुनः स्वतंत्र कराना) को भूलकर मेवाड़ छोड़ने को ही तैयार हो गया। क्या ऐसा कहकर हम महाराणा प्रताप को अकबर का सहयोगी (स्वयं ही मेवाड़ को अकबर के अधिकार में छोड़ने वाला) सिद्ध नहीं कर रहे हैं?

एक बार किसी भजनोपदेशक ने मुझे फोन पर सूचना दी कि मैंने कर्ण के अंतिम दान (युद्ध भूमि में) के विषय में कई भजन गाये हैं, जब मिलोगे तो सुनाऊँगा। मैंने कहा- ऐसे तो पृथ्वीसिंह बेधड़क जी ने भी लिखे हैं, पर यह सच्चा इतिहास नहीं है। वे बोले- यह तो ठीक है, पर प्रेरणा तो मिलती ही है। मैंने कहा- हम सच्चे इतिहास से भी तो प्रेरणा दे सकते हैं। जब इतिहास में कोई घटना घटी ही नहीं, फिर हम इतिहास को काल्पनिक बनाने वालों में क्यों शामिल हों? प्रेरणा तो पशु-पक्षी आदि की कहानियों (पंचतंत्र, हितोपदेश आदि) से भी दी जा सकती है। यद्यपि महाभारत में बहुत प्रक्षेप हुआ है तथापि वहाँ इतना ही लिखा है-

तथा विमुक्तो बलिनार्क तेजाः,प्रज्वालयामास दिशो नभश्च।
ततोऽर्जुनस्तस्य शिरो जहार, वृत्रस्य वज्रेण यथा महेन्द्र।।

(कर्ण पर्व अ. 91, श्लोक 50)

"महाबली अर्जुन द्वारा इस प्रकार छोड़ा हुआ वह सूर्य के समान तेजस्वी बाण आकाश एवं दिशाओं को प्रकाशित करने लगे। जैसे इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर का सिर काट गिराया था, उसी प्रकार अर्जुन ने उस बाण द्वारा कर्ण का मस्तक धड़ से अलग कर दिया।" फिर ब्राह्मण वेशधारी कृष्ण-अर्जुन द्वारा दान कैसे मांगा जा सकता है?

आदरणीय वैदिक विद्वान भी अपने लेखों व प्रवचनों में लिखते-कहते रहते हैं कि द्रौपदी ने दुर्योधन को अन्धे का पुत्र अन्धा कहा था, इसी कटु वचन के कारण महाभारत जैसा विनाशक युद्ध हुआ शिक्षा के लिए तो यह अच्छा है कि हम कड़वे वचन बोलने से बचें, पर क्या इससे हम द्रौपदी को असभ्य सिद्ध नहीं कर रहे हैं? यद्यपि रामायण में सीता ने भी प्यारे देवर लक्ष्मण को बहुत कड़वे शब्द कहे थे, पर वहाँ सीता के सामने अपने पति राम की सुरक्षा सर्वोपरि थी और सदा आज्ञाकारी रहा लक्ष्मण उनकी बात (राम को बचाने जाने की आज्ञा) नहीं मान रहा था। उसी भावावेश में कड़वा बोला गया था, ऐसा रामायण में लिखा हुआ है पर अपने घर आये हस्तिनापुर के युवराज व देवर दुर्योधन को द्रौपदी ने अन्धे का पुत्र अन्धा कहा, ऐसा महाभारत में कहीं नहीं लिखा।

जब दुर्योधन पाण्डवों के महल में भ्रमित होकर धक्के खा रहा था, तब उसे देखकर हँस तो कोई भी सकता था, पर उसे अन्धे का पुत्र अन्धा किसी ने भी नहीं कहा ओर द्रौपदी का तो वहाँ नाम भी नहीं है। देखिये-

जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम्।।
अर्जुनश्च यमौचोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा।
नामर्षयत् ततस्तेषामवहासममर्षणः।।

(सभा. 47-7, 9)

अर्थात् दुर्योधन को जल में गिरा देखकर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और उनके सेवक हँस पड़े, जिसे दुर्योधन सह न सका।"

हाँ, दुर्योधन ने अपने पिता धृतराष्ट्र को पण्डवों के विरुद्ध उकसाने के लिए अपने अपमान का वर्णन करते हुए अवश्य कहा था कि उसे जल में गिरा देखकर भीम, अर्जुन, श्रीकृष्ण, द्रौपदी और अन्य स्त्रियां हँसने लगीं। यहाँ श्रीकृष्ण और द्रौपदी का नाम ईर्ष्यालु व कपटी दुर्योधन ने जानबूझकर घसीटा है, क्योंकि महाभारत में श्रीकृष्ण बहुत गम्भीर व आदर्श व्यक्तित्व के धनी हैं और द्रौपदी यदि हँसी थी, तो इतना बुरा नहीं था क्योंकि वह उसका देवर था, पर द्रौपदी इतनी अशिष्ट नहीं थी कि अपने बड़े ससुर धृतराष्ट्र के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग करती। दुर्योधन ने भी उसके केवल

हँसने की बात कही है।

हाँ, किसी किसी संस्करण (महाभारत) में यह श्लोक भी मिलता है-

भीमसेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च।

सम्बोध्य प्रहासित्वा च इतो द्वारं नराधिप।।

वैशम्पायन कहते हैं- महाराज! वहाँ भीमसेन ने उसे 'धृतराष्ट्र पुत्र' कहकर सम्बोधित किया और हँसते हुए कहा- राजन् द्वार इधर है।' इसी को कोई 'अन्धे का अन्धा' होना मानता है तो यह स्वार्थ (स्व अर्थ) सिद्ध करने वाली बात है। पिता या माता के नाम से पुकारना तो उस समय की सामान्य प्रथा थी। श्रीकृष्ण अर्जुन को कौन्तेय, पार्थ, पाण्डव आदि कहते थे। फिर भी यह तो स्पष्ट है कि ऐसा भी द्रौपदी ने नहीं कहा। क्योंकि द्रौपदी वहाँ थी ही नहीं। महाभारत युद्ध का कारण द्रौपदी को बताना उचित नहीं, क्योंकि इससे पूर्व ही भीम को विष पिलाया जा चुका था, हस्तिनापुर का राज्य बाँटा जा चुका था। क्योंकि दुर्योधन की ईर्ष्या और महत्त्वाकांक्षा पाण्डवों को जीवित भी नहीं देखना चाहती थी।

महाभारत के भीष्म पर्व में 18 अध्याय (25 से 42) भगवद् गीता कहलाते हैं। अपनी लोकप्रियता के कारण यह ग्रन्थ स्वतंत्र रूप से उपलब्ध है। इसके उपदेश व महत्व की हम उपेक्षा नहीं करते। वैदिक विद्वानों ने भी इस पर भाष्य लिखे हैं, टिप्पणी लिखी है व शुद्धिकरण (प्रक्षेप निकालकर) किया है। इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण गीता वैदिक सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं है। कई विद्वान् तो सुन्दर उपदेश होते हुए भी सम्पूर्ण गीता को प्रक्षिप्त ही मानते हैं, पर मुझे आश्चर्य हुआ कि आर्य समाज की पत्रिका में वर्तमान में समाज में प्रचारित 'गीता सार' भी छपने लगा है। यह अच्छा उपदेश हो सकता है, पर यह गीता का सार नहीं है। संक्षेप में देखिये-

1. क्यों व्यर्थ चिन्ता करते हो? ..... यह गीता के कुछ नजदीक है, सम्पूर्ण नहीं।

2. जो हुआ वह अच्छा हुआ। ..... ऐसा गीता के किसी भी श्लोक का अर्थ नहीं निकलता। गीता में कर्म का उपदेश है, भाग्यवाद या पलायनवाद का नहीं।

3. तुम्हारा क्या गया, जो तुम रोते हो? ..... उपदेश अच्छा है, पर गीता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

4. परिवर्तन संसार का नियम है। ..... उपदेश अच्छा है, पर गीता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

5. न यह शरीर तुम्हारा है, न तुम इस शरीर के हो। ..... यह गीता के किसी श्लोक का अर्थ या भाव नहीं है।

6. तुम अपने आपको भगवान को अर्पित करो। ..... हाँ, ऐसा भाव गीता के 18वें अध्याय के 62वें श्लोक से मेल खाता है।

7. जो कुछ भी तुम करते हो, उसे भगवान को अर्पण करते चलो। ..... गीता के अध्याय 5, श्लोक 10 से यह भाव प्रकट होता है।

अर्थात् सात में से कुल दो बिन्दुओं का भाव गीता से मेल खाता है, फिर भी हम उसे गीता सार के नाम से प्रचारित कर रहे हैं। केवल अच्छा उपदेश होने से ही कोई विचार किसी ग्रन्थ के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

पाठक विचारें, क्यो जो हुआ, वह अच्छा हुआ। जो हो रहा है, वह अच्छा हो रहा है। जो होगा, वह भी अच्छा ही होगा, ठीक है? देश में शराब की नदी बहती है, प्रतिदिन लाखों जीवों की हत्या कर दी जाती है, माँ-बहनों की इज्जत पर हाथ डाला जाता हे, परस्पर की हिंसा, मारधाड़, लूट-खसोट हो रही है और फिर भी हम कहें जो हुआ अच्छा हुआ। जो हो रहा है, वह अच्छा हो रहा है? अतीत में ऐसे ही उपदेशों ने हमें गुलाम बनाया था।

यदि 'गीता-सार' अच्छा लगता है तो वैदिक विद्वान

शेष पृष्ठ 22 पर

लाहौर के पं. भानुदत्त - उनसे स्वामी दयानन्द ने सुधार कार्य में सहयोग मांगा

- डॉ. भवानीलाल भारतीय

जब अप्रैल 1877 में ऋषि दयानन्द लाहौर पहुंचे और धर्म जागरण का कार्य आरम्भ किया तो उन्हें पता लगा कि यहां के पं. भानुदत्त ने सत् सभा का गठन किया है जो निराकार परमात्मा की पूजा का प्रचार करती है। तथा मूर्तिपूजा को अच्छा नहीं समझती। ऋषि ने पं. भानुदत्त से सम्पर्क साधा और उन्हें अपने विचारों का जानकर अपने कार्य में सहायक बनने के लिए कहा। जब कट्टर पुराणपन्थी पण्डितों को इस बात का पता लगा तो उन्होंने भानुदत्त को जा घेरा और उन पर दयानन्द का सहायक होने का आरोप लगा कर बहुत कुछ बुरा भला कहा। पं. भानुदत्त में इतना आत्मिक बल कहां था कि वे प्रचण्ड सुधारक दयानन्द का साथ देते। अतः तुरन्त फिसल गये और उन पौराणिकों को आश्वस्त कर दिया कि वे उनके जैसे ही विचार रखते हैं तथा यदि दयानन्द का विरोध करने लगे। बात आई तो वे पौराणिकों का ही साथ देंगे। इस पर जब उनको मित्रों ने कहा कि पहले तो वे मूर्तिपूजा के विरोधी थे, अब दयानन्द के निराकारवाद की खिलाफत क्यों करते हैं, तो उन पण्डितजी ने कहा - ''पं. दयानन्द सरस्वती चाहते तो थे कि जाति हित के कार्यों में उनका सहायक बनूं तथा उनके साथ साथ लोगों को उपदेश दूं परन्तु मैं कुटुम्ब के मोह में कुछ ऐसा फंसा हूं। इस कार्य में रुचि रखने पर भी मुझमें उनके साथ रहने का साहस नहीं है।

पं. भानुदत्त सदियों से राजस्थान से जाकर पंजाब में बसे पुष्करण ब्राह्मण कुल में जन्मे एक ब्राह्मण के पुत्र थे। उनका जन्म 1839 में लाहौर के पं. बख्शीराम के यहां हुआ था। वे संस्कृत के अच्छे पण्डित थे तथा अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। जब पादरियों ने लाहौर में मिशन कालेज की स्थापना की तो वहां संस्कृत के प्राध्यापक बनाये गये। उन्होंने सनातन धर्म दीपिका, आर्य प्रश्नावली, समास्य संध्या, संस्कृत सोपान आदि अनेक ग्रन्थ लिखे तथा पंजाब के शिक्षा विभाग के लिए पाठ्य पुस्तकों का भी सम्पादन किया 'पुष्करण सज्जन चरित्र' के लेखक ने लिखा है कि सर्व साधारण की सेवा करने की भावना से पंजाब में ब्रह्म समाज तथा आर्यसमाज के पहले सत्सभा की स्थापना की। जब स्वामी दयानन्द सरस्वती लाहौर पधारे तो आपने बहुत समय तक उनका सत्संग किया परन्तु धार्मिक प्रचार में सहयोग देना स्वीकार नहीं किया आदि। यह स्पष्ट बताता है कि पं. भानुदत्त में इतना नैतिक साहस नहीं था कि वे खुलकर ऋषि दयानन्द के वैदिक सुधारवाद को अपना समर्थन देते और उनके सहायक बनते। पंजाब के शिक्षा विभाग में नौकरी कर पं. भानुदत्त ने परिवार पालन तो किया किन्तु धर्म तथा राष्ट्र जागरण में अपने समकालीन सुधारक दयानन्द का सहयोग न कर सके। 12 अक्टूबर 1913 को इनका निधन हुआ।

यह तो सत्य है कि पं. भानुदत्त ने स्वामी दयानन्द से क्रियात्मक सहयोग नहीं किया किन्तु विचारों से वे उनके पक्षपोषक रहे। 1881 के जनवरी मास में मथुरा के सेठ नारायण दास के आर्थिक सहयोग से जब कलकत्ता में यूनिवर्सिटी के सेनेट हाल में स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों का विरोध करने के लिए 'आर्य सन्मार्ग सन्दर्शि सभा' का आयोजन हुआ और बिना स्वामीजी का पक्ष सुने उपस्थित पण्डितों ने अपना एकांगी मत सुनाया तथा घोषित किया -''ब्राह्मण भाग भी संहिता के तुल्य

मान्य है। पौराणिका देवताओं की पूजा, मृतक श्राद्ध तथा गंगादि तीर्थ सेवक वेदानुमोदित हैं, अग्निमीडे आदि मंत्रों में आया 'अग्नि', केवल भौतिक अग्नि का प्रतीक है तथा यज्ञ का प्रयोजन मात्र स्वर्ग प्राप्ति है, जलवायु का शुद्धिकरण नहीं तो भारत के समाचार पत्रों ने इस घटना को विस्तार से चर्चा का विषय बनाया। पं. भानुदत्त ने भारतमित्र (कलकत्ता 10 फरवरी 1881) में इस कथित धर्म सन्दर्शिनी सभा के मनमाने व्यवहार और एकतरफा फैसला सुनाने की आलोचना की तथा कहा कि इस सभा में उपस्थित विद्वानों ने स्वामी दयानन्द का पक्ष सुने बिना ही मनमाने फतवे दिये हैं उनका कोई मूल्य नहीं है। निष्कर्ष रूप में उन्होंने लिखा - पण्डितों का कर्तव्य है कि वे वही करें जिससे लोक-परलोक दोनों का कल्याण हो।..... दयानन्द सरस्वती के सम्मुख आकर शास्त्रार्थ कोई नहीं करता, अपने अपने घरों में जो जी चाहे ध्रुपद गाते हैं (अर्थात् अपना एकांगी पक्ष रखते हैं)।

उन्होंने अपने साथी पण्डितों को परामर्श दिया कि देशहित के लिए एकमत हों तथा हिन्दू वर्ग की एकता के लिए यत्न करें। उनकी सम्मति में स्वामी दयानन्द का भी यही लक्ष्य है। ज्ञातव्य है कि राजस्थान के जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर तथा किशनगढ़ - इन चार नगरों में पुष्करण ब्राह्मण वर्ग की मुख्य बसावट है। शताब्दियों पूर्व इनके ही कई पूर्वज पंजाब तथा सीमान्त प्राप्त में जा बसे थे। देश विभाजन के बाद इनमें से अनेक पुनः अपने प्राचीन स्थानों में आ गये। पं. भानुदत्त इसी पुष्करण ब्राह्मण जाति के थे, इसका पता मुझे जिस ग्रन्थ 'पुष्करण सज्जन चरित्र' से लगा। मैंने कई पूर्व स्वामी सर्वानन्द जी के दयानन्द मठ दीनानगर के पुस्तकालय में देखा था। वहीं से आवश्यक नोट्स लिए थे। स्वामी सर्वानन्द जी ने दयानन्द जीवन कथा सुनाने के लिए मुझे दो बार मठ में आमंत्रित किया था।

3/5, शंकर कालोनी, श्री गंगानगर

❑❑

पृष्ठ 20 का शेष

'शुद्ध गीता' की तरह शुद्ध 'गीता सार' भी लिखें और प्रचार करें। श्री विजय कुमार सिंघल, पंचकुला (हरि.) ने इस दिशा में अच्छा प्रयास किया है। उनके द्वारा बनाया गया 'गीता सार' कई वर्ष पूर्व 'तपोभूमि' में छपा था।

देशभक्त बलिदानी शहीदों के विषय में, अधिकतर आर्य समाज के मंच से ही सुनने को मिलता है। उधमसिंह के विषय में किसी भजनोपदेशक से सुना कि जलियांवाला बाग में उधमसिंह का पिता मारा गया था, तो बाद में माता की प्रेरणा से उधमसिंह ने लन्दन में जनरल डायर को मारकर बाप का बदला लिया। कार्यक्रम के बाद मैंने भजनोपदेशक से पूछा कि क्या आपको पता है कि उधमसिंह का जन्म 26 दिसम्बर 1899 ई. को हुआ था और लगभग 3 वर्ष बाद उनकी माता स्वर्ग सिधार गई थी। उनकी 9 वर्ष की अवस्था में पिता स्वर्गवासी हो गये थे। सन् 1913 ई. में भाई साधुसिंह (मुक्ता सिंह) भी निमोनिया के कारण चल बसे थे। 20 वर्ष का जवान उधमसिंह जलियांवाले बाग हत्याकांडा का प्रत्यक्षदर्शी था। तभी से उसने राष्ट्र के अपमान का बदला लेने का निश्चय कर लिया था और 13 मार्च 1940 को पंजाब के भूतपूर्व गवर्नर सर माइकल ओड्वायर को गोलियों से भून कर शहादत पाई थी, पर पुलिस इंसपेक्टर जनरल डायर पहले ही लम्बी बीमारी के कारण चल बसा था। उधमसिंह ने देश का बदला लिया था, बाप का नहीं। बाप का बदला कहकर आप उस वीर के बलिदान का गौरव घटा रहे हो।

भजनोपदेशक ने सारी बातें मान ली, पर भविष्य में भी वही झूठा इतिहास सुनाते मिले। क्या सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने का उपदेश देने वाले समाज का यही सिद्धान्त है?

❑❑

पुनर्जन्म सिद्धि व लाभ

(इन्द्रजित् 'देव')

वैदिक धर्म की सभी मान्यताएं वैज्ञानिक हैं व इनका आधा सत्य, युक्ति व प्रमाण है। पुनर्जन्म उनमें से एक विशेष तथ्यात्मक मान्यता है। धीरे-धीरे वैदिक धर्म आर्यावर्त से बाहर भी गया था तथा इसकी पुनर्जन्म सम्बन्धी मान्यता को सर्वत्र स्वीकृति प्राप्त रही है परन्तु आज इसे आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए मतों व शुद्ध वैदिक धर्मियों के अतिरिक्त कोई नहीं मानता इस के विरोध के स्वर भी कभी भारत से उठे थे जब चार्वाक दर्शनकार ने घोषणा की थी :

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

अर्थात् जब तक जिओ, अच्छी मस्ती में जिओ, सुखपूर्वक जिओ। यदि तुम्हारे 'पास' धन नही है तो भी निश्चिंत होकर किसी दूसरे व्यक्ति से लेकर खाओ-पिओ, मौज करो। इस बात की चिन्ता मत करो कि ऋण कैसे उतारोगे क्योंकि यह एक जीवन व्यतीत करके जब जाओगे तो तुम्हारा शरीर तो भस्म होगा परन्तु मुड़कर फिर तुमने आना नहीं है। ऋण कौन चुकाएगा? किसको चुकाओगे? न ऋण लेने वाला बचेगा तथा न ही ऋण देने वाला ही होगा।

Eat, drink and be merry का पश्चिमी सिद्धांत चार्वाक दर्शन का ही अंग्रेजी अनुवाद है और हम कह सकते हैं कि कभी यह भारतवर्ष जगत् गुरू रहा है तो जगत् को भोगी-विलासी बनाने का प्रारम्भ भी हमारे ही देश ने किया था।

आवागमन का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। ऐसा समय भी था, जब सम्पूर्ण संसार इसे स्वीकार करता था। चीन, यूनान, मिश्र, ईरान, रोम, मैक्सिको, अमरीका, अरब, रूस व आस्ट्रेलिया के निवासी भी पूर्णतः इसे मानते थे। यह तब की बात है, जब संसार में प्रेम व शान्ति का सम्पूर्ण जगत् पर साम्राज्य था। बरेली में सन् 1876 ई. में पादरी टी.जी.स्काट ने भी इन शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है-

"प्राचीन मिश्र वालों ने इसको मान लिया। इसी प्रकार यूनानियों ने, रूमियों ने और अंग्रेजों न तथा हमारे पुराने द्रविड़ लोग जो हमारे गुरू थे, यही सिखाते थे और हम लोग सब के सब मानते थे।"

रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका के अनुसार ईसवी सन् 543 ई. में अस्तंबोल में तत्कालीन पोपों की एक बैठक हुई थी जिसमें यह निर्णय लिया गया था कि भविष्य में वे पुनर्जन्म को नहीं मानेंगे परन्तु उनकी यह घोषणा 13वीं-14वीं शताब्दी से डगमगाने लगी है। ईसाई पादरी तब दान लेकर दानदाताओं को एक हुण्डी लिख देते थे कि इस व्यक्ति ने यहाँ इतना दान दिया है, अतः यह मृत्यु के पश्चात् जब कब्र से उठेगा तो इसे HEAVEN अर्थात् स्वर्ग में स्थान व सुविधाएं दी जाएं। इसी प्रकार इस्लाम मतानुयायी कहते हैं कि बहिश्त अर्थात् सवर्ग में जाने वालों को हूरें (अप्सरायें) व शराब की नदियां मिलेगीं, जब वे कब्रों से कयामत के दिन उठेंगे क्योंकि वे मुहम्मद पर ईमान लाते हैं। यह परोक्षतः पुनर्जन्म होने की स्वीकृति ही है क्योंकि बिना नया शरीर प्राप्त किए कोई भी आत्मा पदार्थों का सेवन कर ही नहीं सकती। आत्मा व शरीर का संयोग हो तो जन्म है। इसके बावजूद कुछ विधर्मी व नास्तिक बड़े हठपूर्वक यह घोषणा करते हैं कि पुनर्जन्म होता नहीं। होता है तो हमारे प्रश्नों के उत्तर दो।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पुनर्जन्म सम्बन्धी उन लोगों के प्रश्नों के उत्तर बड़ी कुशलता व सफलता से "सत्यार्थ प्रकाश" के नवम् समुल्लास, "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" व "उपदेश मंजरी" में देने का प्रयास किया है, जो लोग पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। उसके अतिरिक्त प्रखर बलिदानी पं. लेखराम जी ने "कुलियात आर्य मुसाफिर के दोनों खण्डों में इस विषय में उठाई शंकाओं का प्रामाणिक समाधान किया है। पुनर्जन्म

सम्बन्धी सबसे बड़ा प्रश्न यह किया जाता है कि वर्तमान जन्म में हमें पिछले जन्मों की स्मृतियां रहती नहीं? महर्षि का उत्तर यह है कि इस व्यवस्था में ईश्वर की महती कृपा है कि पिछले जन्मों की स्मृतियाँ नहीं रहतीं। हमें वर्तमान जीवन के आरंभिक पांच वर्षों तक की घटनाएं स्मरण नहीं रहतीं क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं। इसलिए स्मरण नहीं रहता। पूर्व जन्म की बात दूर रही, इसी जीवन में भी जीव मां के गर्भ में था, तब की कोई भी बात हमें स्मरण नहीं रहती। इसी में जीव के जगत् का सुख निहित है।

मैं अनेक बार चक्रवर्ती राजा बना हूँ तो कभी भिखारी बनकर भी जीवन-निर्वाह करना पड़ा है। किसी जीवन में दान दाता रहा हूँ तो कभी मैं चोर भी रहा हूँ। यदि मुझे वे घटनाएं स्मरण आ जाएं तो वर्तमान जीवन में कभी ग्लानि में डूब जाता तो कभी मैं अहंकार में लीन रहता। यदि मैं दूसरे लोगों को बताता कि मैं पिछले किसी जन्म में चक्रवर्ती राजा था तो वे मेरे कथन पर हंसते व कहते- चल चल, झूठ मत बोल। यह मुँह और मसूर की दाल।" यदि उन्हें पता चलता कि मैं चोरी भी करता रहा हूँ तो वे व्यंग्य व परिहास करते व संसार जनों को कहते कि इस व्यक्ति से सावधान रहो।"

हमें पिछली घटनाएं स्मरण नहीं रहतीं, इसी में सुख है। वस्तुतः यह ईश्वर का बड़ा वरदान है। ईश्वर हमारी स्मृतियां को छीन कर हम पर बहुत बड़ी कृपा करता है। पिछले जन्मों की स्मृतियों को लेकर जीव अतीतगामी ही बना रहेगा, वह भविष्यगामी नहीं बनेगा। किसी विशेष घटना पर से जिसका मस्तिष्क रुक जाता हे, वह पागल हो जाता है। किसी पागल से मिलकर देखिए- वह अपनी किसी घटना को ही स्मरण करता रहता है, दोहराता रहता है। वर्तमान का आभास उसे नहीं होता, भविष्य की कोई योजना उसकी बुद्धि में नहीं आती। बाधा हटाए बिना यात्रा सुगम व सरल नहीं बनती। अतीत की गांठ बांधना हमें आगे बढ़ने में बाधक है, यह मनोवैज्ञानिकों का विचार है।

एक आक्षेप यह किया जाता है कि यदि हम पुनर्जन्म को मानेंगे तो हम चरित्रहीन व ईश्वर चरित्रहीनता को बढ़ावा देने वाला सिद्ध होता है। यह आक्षेप आगरा में सन् 1880 ई. में मौलवी तुफैल अहमद ने महर्षि दयानन्द के समक्ष रखा था। महर्षि ने पूछा था- "वह कैसे?"

"एक व्यक्ति मर गया। इस जन्म में जो उसकी बेटी है, सम्भव है कि अगले जन्म में वह उसकी पत्नी बन जाए तो उससे सम्बन्ध बनाने से वह चरित्रहीन बनेगा।"

"बाप व बेटी का सम्बन्ध शरीर का है, आत्मा का नहीं। एक आत्मा का दूसरी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए यह आक्षेप आत्मा पर लागू नहीं हेाता।"

ईश्वरीय व्यवस्था को ठीक समझने पर ही यह ज्ञान हो जाता है कि एक आत्मा का सम्बन्ध दूसरी आत्मा से शरीर के कारण व माध्यम से ही है। आत्मा किसी दूसरी आत्मा का न पिता है, न पुत्र तथा न ही पति या पत्नी। आंख बंद होते ही समस्त लौकिक व शारीरिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं, expire हो जाते हैं। अतः यह आक्षेप व्यर्थ है।

एक आक्षेप यह किया जाता है कि पाप/दुष्कर्म तो मनुष्य करता है परन्तु आगामी जीवन में इनका फल पशु-पक्षी को मिलता है तो यह ईश्वर का अन्याय है। मनुष्य के पापों का दण्ड भी उसे ही मिलना चाहिए। घोड़े, गधे या सुअर को दण्ड देना ईश्वर का न्याय नहीं है। इसका उत्तर यह है कि प्रश्नकर्ता को यह ज्ञान ही नहीं है कि कर्मों का कर्त्ता कौन है व उनका भोक्ता कौन, वास्तविकता यह है कि कर्मों का कर्त्ता जीवात्मा है व फल का भोक्ता भी वही है। जीवात्मा न मनुष्य है तथा न ही घोड़ा, गधा या सुअर जीवात्मा है। जिस-जिस योनि में जीवात्मा जाता है, उस-उस के आधार पर उसका वैसा नाम हो जाता है। मनुष्य योनि ही कर्म योनि है तथा उस योनि में कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होने के कारण उस योनि में रहने वाले जीव को कुछ भी कर्म का अधिकार है, छूठ है। यदि तब वह पाप/दुष्कर्म करता है तो दण्ड देने तथा सुधार करने के उद्देश्य से उसे फलस्वरूप परमात्मा पशु-पक्षियों की किसी योनि में

भेजता है। वहाँ वह नये पाप/दुष्कर्म करने के अधीकार और अवसरों से वंचित हो जाता है। पाप करने के साधन, अवसर व अधिकार केवल मनुष्य शरीर में ही उपलब्ध हैं। मनुष्य शरीर ही पाप-कर्म करने का साधन है, अन्य कोई शरीर नहीं। जिस प्रकार एक हत्यारा निर्दोष की अपनी बन्दूक से हत्या करता है न्यायाधीश बन्दूक को दण्ड न देकर उसे ही देता है, इसी प्रकार मनुष्य शरीर से पाप करने वाले जीव को ही दण्ड स्वरूप घोड़े, गधे या सुअर की योनि में ईश्वर भेजता है। स्पष्ट है कि दण्ड तो जीव को ही मिलता है, शरीर को नहीं। शरीर साधन मात्र है। आत्मा व शरीर का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। जीव शरीर के बिना निष्क्रिय है तथा शरीर जीव के बिना व्यर्थ है। मनुष्य शरीर में रह रहा जीव पुण्य कर्मों को फल भोगने की इच्छा रखकर पुण्य कर्म करेगा तो निश्चित उसे फल स्वरूप पुनः मनुष्य योनि मिलेगी। इसके विपरीत कर्म करेगा तो पशु योनि में भेजकर उससे पाप करने का अभ्यास छुड़ाया जाता है तथा कालान्तर में उसे पुनः मनुष्य योनि में लाया जाता है। यह परमात्मा की जीव के सुधार, पाप-मुक्ति व कल्याण की दिव्य तथा अनुपम व्यवस्था है, न कि यह अन्याय है।

विपक्षियों की ओर से एक आक्षेप यह किया जाता है कि जीवों द्वारा मनुष्य योनि में रहकर किए दुष्कर्मों-पापों का फल देने व जीवों के सुधार हेतु उन्हें पशु-पक्षी व कीट-पतङ्गादि योनियों में ईश्वर द्वारा भेजना लाभदायक नहीं है क्योंकि उन्हें यह सूचना जानकारी ही नहीं मिलती कि उन्होंने कौन-से दुष्कर्म किये थे, जिनके फलस्वरूप उन्हें निम्न योनि में जन्म मिला है। जब दुष्कर्मों का ज्ञान ही जीव को न होगा तो वह सुधार परिष्कार व उनसे बचाव क्या करेगा? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश" के नवम समुल्लास में इस प्रकार दिया हैः-

(उत्तर) तुम ज्ञान कै प्रकार को मानते हो?

(प्रश्न) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आठ प्रकार का।

(उत्तर) तो जब तुम जन्म से लेकर समय-समय में राज, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्रय, निर्बुद्धि, मूर्खता आदि सुख-दुःख संसार में देखकर पूर्वजन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते? जैसे एक अवैद्य और वैद्य को कोई रोग हो, उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य जान लेता है और अविद्वान् नहीं जान सकता। उसने वैद्यक विद्या पढ़ी है और दूसरे ने नहीं। परन्तु ज्वरादि रोग होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है कि मुझसे कोई कुपथ्य हो गया है जिससे मुझे यह रोग हुआ है। वैसे ही जगत् में सुख दुख आदि की घटती बढ़ती देखके पूर्व जन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते?

और जो पूर्वजन्म को न मानोगे तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है क्योंकि बिना पाप के दारिद्रयादि दुःख और बिना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता उसको क्यों दी? और पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के अनुसार दुःख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है।"

इन पंक्तियों के लेखक के मतानुसार यह आवश्यक नहीं है कि पापों/दुष्कर्मों का फल देखकर-भोगकर सब जीव सुधर सकते हैं। कितने ही चोरों को हम बन्दीगृह में जाते हुए देखते हैं। किसी अन्य अपराध में बहुत से अपराधियों को दूसरे प्रकार के दण्ड भुगतते हुए देखते हैं परन्तु कुछ ही अपराधी अपराधों को त्यागते हैं। अपराधी पूर्ववत् अपराध करते ही हैं। कम ही लोग दण्ड को देखकर अपराध/पाप नहीं करते परन्तु यह नियम अनिवार्यतः सब पर लागू नहीं हेाता। सुधार केवल अपराध/पाप का फल देखकर-जानकर ही संभव नहीं हे। यह विषय संस्कार-भिन्नता पर भी आधारित है। संस्कार वश भी मनुष्य पाप करते हैं। पुनर्जन्म सम्बन्धी कुछ प्रश्नों के उत्तर देने के पश्चात् पुनर्जन्म का लाभ व सिद्धि का थोड़ा सा प्रयास आगे किया जा रहा है। नवजात शिशु कभी हंसता है कभी रोता देखा जाता है। कभी भूख लगने पर माँ का दूध पीने के लिए वह रोता भी है। शिशु की ये क्रियाएं उसके विगत जन्म की स्मृति व अनुभव का प्रमाण देती हें। पूर्व जन्म में भूख लगने पर जब वह रोता था, तब उसकी माता भोजन दे देती थी, दूध पिला देती थी। इसी

प्रकार सुख दे चुके दृश्यों, व्यक्तियों व पदार्थों की स्मृति आने पर वह प्रसन्न होता है तो दुःख देने वाले पदार्थों; दृश्यों व व्यक्तियों की स्मृति आने पर भयभीत होने लगता है। जन्म लेते ही बालक को माँ के स्तन से दूध पीने का अभ्यास का प्रशिक्षण नहीं होता किन्तु जन्मते ही बिना किसी के सिखाये ही शिशु अपनी माता का दूध पीने लगता है। इससे सिद्ध होता है कि विगत जीवन में दूध पीता रहा है तो उसे अब भी स्मरण आ रहा है। इसी अभ्यास से वह बिना प्रशिक्षण दूध पीता है।

हमारा प्रश्न आक्षेपकर्त्ताओं से यह है कि गाय का नवजात बछड़ा जन्म लेने के कुछ समय बाद ही नदी में तैरता देखा गया है वे बताएं कि उसने यह प्रशिक्षण किससे लिया तथा उसका अभ्यास किए बिना वह कैसे तैरता है? उत्तर है- यह पिछले किसी जन्म का अनुभव है।

इतना ही नहीं, मृत्यु के समय होने वाले कष्ट का अनुभव जीवन में एक बार व्यक्ति मरते समय ही करता है। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी मृत्यु से भयभीत रहते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि पिछले जन्म की मृत्यु के समय होने वाले कष्ट की अनुभूति ही उसे मृत्यु से भयभीत करती है। मृत्यु से भयभीत होना भी आत्मा की नित्यता और पुनर्जन्म को प्रमाणित करती है-

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्ष-भयशोकसम्प्रति -पतेः। न्याय दर्शन 3-1'19

व्यक्तियों के संस्कारों, गुणों, रुचियों, योग्यताओं, कार्यों तथा व्यवहारों में भिन्नता भी पुनर्जन्म को सिद्ध करती है। यदि हमारा वर्तमान जीवन ही प्रथम व अन्तिम है तो सब की ये वस्तुएं एक जैसी होनी चाहिए परन्तु दो जुड़वा भाइयों के विचारों, संस्कारों व रुचियों आदि में भी समानता नहीं पाई जाती। तमिलनाडू के रामानुजम् को गणित में ही योग्यता क्यों थी, शेष सभी विषयों में वह अनुत्तीर्ण क्यों हो गया था? मास्टर मदन को किसी ने संगीत का प्रशिक्षण नहीं दिया था। फिर भी बिना सीखे पारंगता क्यों व कैसे बन गया? आप या मैं क्यों गायक नहीं हो पाए? चूहों का मूर्तियों पर चढ़ना-उतरना सब लोग देखते हैं परन्तु दयानन्द के सिवाए मूर्ति पूजा की निस्सारता का सबको बोध क्यों नहीं हुआ? एक ही माता-पिता की एक पुत्री को क्रोध आता है तो द्वितीय पुत्री शान्त व सहनशील क्यों है? एक की रुचि सिनेमा की ओर है तो दूसरे का मन आध्यात्मिकता की ओर क्यो मुड़ गया है? एक दानी है तो दूसरी कन्जूस क्यों बनी? योग दर्शन के सूत्र 3/18 के अनुसार किसी व्यक्ति के संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है-

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्।

अर्थात् अवचेतन संस्कारों के प्रत्यक्षीकरण होने से पूर्व जन्मों का ज्ञान हेाता है।

पुनर्जन्म को न मानने वाले लोग अपनी बोलचाल की भाषा में पुनर्जन्म को स्वयं मानते हैं भले ही इससे इनकार करते हैं- "माता जी चल बसीं।" इस वाक्य में चले जाना अर्थात् मरना माना गया परन्तु कहीं उसका अन्यत्र बस जाने की स्वीकृति भी है।

यह पुनर्जन्म ही तो है, नये शरीर में जाना, रहना या बस जाना।

पुनर्जन्म की आवश्यकता व इसके लाभों पर विचार करना भी इस विषय में अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में, महर्षि दयानन्द के "सत्यार्थ प्रकाश" के अष्टम समुल्लास के इस वाक्य का हम उद्धरण देना चाहते हैं- "ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं।" आप यह भी मानते होंगे कि सत्य बदलता नहीं है, वह अपरिवर्तनशील है, अटल है तथा सत्यकारी ईश्वर की व्यवस्था कभी भी असत्य नहीं हो सकती। पुनर्जन्म का उसका कार्य इसलिए है क्योंकि छत पर पहुँचने हेतु सीढ़ियों की आवश्यकता होती है। सबसे नीचे खड़े व्यक्ति को ऊपर छत तक पहुँचने के लिए कई प्रयत्न करने पड़ते हैं। प्रायः व्यक्ति एक पग उठाकर एक ही सीढ़ी चढ़ते हैं। कोई व्यक्ति एक सीढ़ी भी कठिनाई से चढ़ता है तो कोई दूसरा चढ़ते-चढ़ते गिर जाता है तो कुछ लोग बहुत ऊँचा चढ़कर फिर नीचे आ गिरते हैं। ऐसे भी लोग आपको मिलेंगे जो दूसरी सीढ़ी पर भी पग रख नहीं पाते तथा

प्रथम सीढ़ी पर ही खड़े रहते हैं। प्रथम सीढ़ी पर खड़े व्यक्ति धड़ाम से नीचे धरती पर गिरते भी देखे जाते हैं। जब तक छत पर न पहुँचा जाए, नीचे से ऊपर व ऊपर से नीचं का क्रम चलता रहता है। विश्वविद्यालय भी परीक्षार्थियों को उत्तीर्ण होने के लिए बार बार अवसर देता है। ईश्वर भी ऐसा ही करता है- मोक्षावस्था तक जब तक जीव न पहुँच पाएगा, तब तक वह उसे जन्म देता रहेगा। हमें बार-बार जन्म लेना पड़ेगा। यह ईश्वर की कृपापूर्वक व्यवस्था है। जीव का परम लक्ष्य- आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखों से छूटना ही है। इसके बिना जीव को किसी भी योनि में परम सुख (मोक्ष) प्राप्त न होगा। इसी की प्राप्ति करने हेतु ईश्वर ने बार-बार जन्म कर्मानुसार देने की अनिवार्य व्यवस्था की है।

इस व्यवस्था का वर्णन वेदों में यत्र-तत्र किया है व कुछ आर्ष ग्रंथों में भी इसका उल्लेख मिलता है। यहाँ हम कुछ मंत्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं :

1. पुनर्मनः पुनरार्युम आगन पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगनपुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निनर्नः पातु दुरितादवद्यात्।- यजु. 4/15

2. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मण च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव।
- अथर्व 7-6-67-1

3. आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वर्पूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनि प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदिता चिकेत।।- अथर्व 5-1-1-2

4. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह धेहि भोगम्।
ज्योक पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तमनुमते मृकया नः स्वस्तिः।।- ऋ. 8-1-23-6

5. पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौदेवी प्रनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां इया स्वस्तिः।।- ऋ. 8-1-13-7

6. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।।- यजु 31-10

7. असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृत्ताःतांस्ते प्रत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।- यजुर्वेद 40/3

8. अप्स्वग्नेसधिष्टव सौष्टधीरनुरुध्यसे।
गर्भोसञ्जायसे पुनः।- यजुर्वेद 22/38

9. द्वेसृती अश्रृण्वं पितृणामहं देवानामुतमर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।।- यजुर्वेद 19-47

चरक संहिता के सूत्र स्थान के सन्दर्भ सहित निवेदन है कि वहां प्रत्येक मनुष्य की तीन स्वाभाविक ऐषणाओं का वर्णन है। ये 3 ऐध्याएं हैं- प्राणोषणा, वित्तैषणा व परलोक लोकैष्णा। जो जीवन मुझे मिला है, वर्तमान है, वह जीवन सुख शान्ति से व्यतीत हो जाए, इस में मेरे प्राणों पर संकट न आए- यह इच्छा करना प्राणैषणा है। इस जीवन को सुख-शान्ति से व्यतीत करने के लिए मुझे भौतिक साधन अपेक्षित हैं, वे मुझे मिलते रहें, ऐसी इच्छा करना वित्तैषणा है। इस शरीर से छूटने के पश्चात् अगले जन्म में किसी अच्छे परिवार, अच्छे स्थान व अच्छे शरीर में मैं जाऊँ, यह कामना करना परलोकैषणा है, जो सब में है। इस स्वाभाविक इच्छा के आधार पर पुनर्जन्म के न मानने वाले लोग कहते हैं कि यदि पुनर्जन्म होता भी है तो वह माता-पिता का ही अंश होता है। उससे पृथक् व स्वतन्त्र कुछ नहीं होता। हमारा निवेदन यह है कि यह मान लेने पर एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि नये शरीर में चेतना कहाँ से आती है? यदि नये शरीर में माता-पिता का ही आत्मा आता है तो माता-पिता को मरना पड़ेगा। उनके मरे बिना उनकी आत्माएं पुत्र अथवा पुत्री में कैसे आएंगी? माता-पिता दोनों की आत्माएं न सही, उनमें से किसी एक को तो मरना ही पड़ेगा। क्या ऐसा होता है? यदि माता-पिता की आत्माएं समग्र रूप में सन्तान में नहीं आतीं और आंशिक रूप में, कुछ भाग में आएं, तो भी वे मरेंगे ही। ऐसा लोक में होता नहीं, न ही होगा। इससे भी सिद्ध है कि वर्तमान शरीर से निकला आत्मा ही किसी की (ईश्वर की) व्यवस्था से नया शरीर धारण करता है। यही पुनर्जन्म है।

❑❑

आर./आर. नं० १६३३०/६७ मार्च २०१४
Post in Delhi R.M.S
०१-०७/४/२०१४

अप्रैल 2014

रजिस्टर्ड नं० DL (DG -11)/8029/2012-14
लाईसेन्स नं० यू (डी०एन०) १४४/२०१२-१४
Licenced to post without prepayment
Licence No. U (DN) 144/2012-14

पाठकों से निवेदन

१. अपने पत्रों में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य ही लिखा करें, अन्यथा कार्यवाही सम्भव नहीं होगी।
२. १५ तारीख तक प्रतीक्षा करके ही दुबारा अंक मँगाएं, यदि अंक न पहुँचा हो।
३. यदि आप अपना पता बदलवायें तो यह ध्यान रखें कि बदले हुए पते पर अंक-प्रेषण एक माह बाद आरम्भ होगा।
४. अंक के रेपर पर अपना पता चैक कर लिया करें। यदि कोई त्रुटि हो, तो सूचना दे दिया करें।
५. जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त है, अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

दिनेश कुमार शास्त्री
कार्यालय व्यवस्थापक
मो०-९६५०५२२७७८

ओ३म्

भारत में फैले सम्प्रदायों की निष्पक्ष व तार्किक समीक्षा के लिए उत्तम कागज़, मनमोहक जिल्द, सुन्दर आकर्षक छपाई एवं (द्वितीय संस्करण से मिलान कर शुद्ध प्रामाणिक संस्करण)

सत्य के प्रचारार्थ

सत्यार्थ प्रकाश

सत्य के प्रचारार्थ

● **प्रचार संस्करण (अजिल्द)** 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 50 रु.	प्रचारार्थ 30 रु.	प्रचारार्थ मूल्य पर कोई कमीशन नहीं
● **विशेष संस्करण (सजिल्द)** 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 80 रु.	प्रचारार्थ 50 रु.	
● **स्थूलाक्षर सजिल्द** 20×30÷8	मुद्रित मूल्य 150 रु.		प्रत्येक प्रति पर 20% कमीशन

10 या 10 से अधिक प्रतियाँ लेने पर विशेष अतिरिक्त कमीशन

कृपया, एक बार सेवा का अवसर अवश्य दें और महर्षि दयानन्द की अनुपम कृति सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार प्रसार में सहभागी बनें

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
427, मन्दिर वाली गली, खारी बावली, दिल्ली-6
Ph. :011-43781191, 09650622778
E-mail : aspt.india@gmail.com

श्री सेवा में.....
ग्राम.....
डा० .....
जिला.....

कृपी पुस्तक/पत्रिका

प्रकाशक : धर्मपाल आर्य, ४२७, मन्दिर वाली गली, नया बांस, खारी बावली, दिल्ली-६
मुद्रक : ईरानियन आर्ट प्रिण्टर्स, १५३४, गली कासिमजान, बल्लीमारान, दिल्ली-६